वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५० अंक १ जनवरी २०१२

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २२,७५०

वर्ष ५० जनवरी २०१२ अंक १

पुरखों की थाती

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कार्यं व्यग्रा भवन्ति च ।
महाऽऽरम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ।।२०।।

– अज्ञानी लोग छोटा-सा कार्य आरम्भ करके भी बड़े परेशान हो जाते हैं, परन्तु धीर लोग महान् कार्य आरम्भ करके भी धैर्यवान बने रहते हैं ।

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेन अधस्तथाऽऽत्मा गुणदोषयोः।।२१।।

– शिला को पर्वत पर चढ़ाये जाने के समान, गुणों द्वारा अत्यधिक प्रयत्नपूर्वक मनुष्य को ऊपर उठाया जाता है, पर दोषों द्वारा क्षण भर में नीचे गिरा दिया जाता है ।

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमि-वात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड्व्याघाता महत्त्वस्य ।।२२।।

– महानता की प्राप्ति में ये छह विघ्न हैं – आलस्य, स्त्री की सेवा, रोगी होना, जन्मभूमि से मोह, सन्तोष और भय ।

आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्ति उद्यमसमो बन्धुः कृत्वाऽयं नावसीदति ।।२३।

– आलस्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, जो उसके शरीर में ही निवास करता है । उद्यम या कर्मठता से बढ़कर उसका अन्य कोई मित्र नहीं है, इस (उद्यम) का आश्रय लेने से किसी को शोक नहीं करना पड़ता ।

आशा नाम मनुष्याणां शृंखला काचिदद्भुता ।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत् ।।२४।

– मनुष्यों को बाँधनेवाली 'आशा' नाम की एक बड़ी ही विचित्र जंजीर है । इससे बँधे हुए लोग तो दौड़धूप करते रहते हैं, जबकि इससे मुक्त हो चुके लोग अपंग की भाँति स्थिर-शान्त रहते हैं ।

आश्रमान्तर्गता वेश्या ऋष्यशृंग ऋषेः सुतः ।
तपस्विनस्तु तां मेने आत्मवन्मन्यते जगत् ।।२५।।

– (जाकी रही भावना जैसी) ऋषिपुत्र ऋष्यशृंग को अपने आश्रम में आई हुई वेश्या भी तपस्वी ही दिखाई पड़ी । व्यक्ति संसार के लोगों को अपनी मनोदशा के अनुरूप ही देखता है ।

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ।।२६।।

– जो वीर युद्ध में अपने स्वामी के लिए लड़ते हुए प्राण देते हैं, वे स्वामीभक्त तथा कृतज्ञ लोग स्वर्गलोक में जाते हैं ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।२७।।

– भोजन, नींद, भय तथा मैथुन, ये सब बातें तो मनुष्य और पशु दोनों में समानभाव से रहती हैं । मनुष्यों में यदि कोई विशेष बात है तो वह धर्म है । इसलिये जो धर्म से हीन मनुष्य है, वह पशुओं के ही समान है ।

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
पूजा ते विषयोपभोग-रचना निद्रा समाधि-स्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिण-विधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।।२८।

– हे शिव, तुम्हीं मेरी आत्मा हो, मेरी बुद्धि पार्वतीजी हैं, मेरे पंचप्राण तुम्हारे सेवक हैं, मेरा शरीर तुम्हारा मन्दिर है, मेरी विषय-भोग-चेष्टा ही तुम्हारी पूजा है, मेरी निद्रा ही समाधि की स्थिति है, मेरा चलना-फिरना ही तुम्हारी प्रदक्षिणा है, मेरे मुख से निकलनेवाले शब्द तुम्हारे स्तोत्र हैं – तात्पर्य यह कि मैं जो कुछ भी करता हूँ, वह सब तुम्हारी आराधना है ।

विवेक-गीतांजलि

– १ –

(केदार, बागेश्री या शंकरा – रूपक)

हे विवेकानन्द स्वामी, शान्ति के तुम दूत हो ।
देवमण्डल के कदाचित्, विचरते अवधूत हो ।।

भारती-प्रज्ञा-सृजन के, फुल्ल कुसुमित चारु वन के,
परम सुन्दर पुष्प के सम, सम्प्रति उद्भूत हो ।।

धर्म का अमृत पिलाने, मर्त्य अवनी को जिलाने,
सप्त-ऋषियों के भुवन से, रामकृष्णाहूत हो ।।

ब्रह्मद्युति औ क्षात्रबल ले, विचरते सारे धरातल,
वन्दना करते जगत्-जन, सर्वथा अभिभूत हो ।।

जागरण का तंत्र देकर, निडरता का मंत्र देकर,
प्रगति का आह्वान करते, मनुज पूर्व-अभूत हो ।।

– २ –

(भैरवी – रूपक)

(तर्ज – श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन)

स्वामी विवेकानन्द की, महिमा अगम्य अपार है ।
उनके अलौकिक ज्ञान से, विस्मित सकल संसार है ।।

फैला हुआ था जब अँधेरा, घोर भारत देश में,
तब सूर्यसम सहसा प्रकट हो, दीप्त गैरिक वेश में,
सबको जगाया मंत्र देकर,
कर दिया उद्धार है ।। स्वामी.

पाश्चात्य जग संघर्षरत था, जड़ सुखों की चाह में,
दुख-दर्द के काँटे बिछे थे, किन्तु उनकी राह में;
सन्देश दे एकत्व का,
पल में हरा भूभार है ।। स्वामी..

तुम इस विषम संसार में, ले जन्म युगनायक हुए,
वह लौह भी कांचन हुआ, जिसने तुम्हारे पद छुए;
जग को 'विदेह' सीखा गये,
त्याग और सेवा सार है ।। स्वामी...

– 'विदेह'

वराहनगर मठ और भारत-भ्रमण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

गाजीपुर, मार्च, १८९०। मेरा मूलमंत्र है कि जहाँ जो कुछ अच्छा मिले, सीखना चाहिए। इसके कारण वराहनगर में मेरे कुछ गुरुभाई सोचते हैं कि मेरी गुरुभक्ति कम हो जायेगी। इसे मैं पागलों तथा कट्टरपंथियों के विचार मानता हूँ, क्योंकि जितने गुरु हैं, वे सब उसी एक जगद्गुरु के अंश तथा आभासस्वरूप हैं।[३७]

गाजीपुर, ३ मार्च, १८९०। शायद आप नहीं जानते कि मैं कठोर वेदान्ती विचारों का होता हुआ भी बहुत ही कोमल हृदय हूँ और इसी से मेरा बड़ा अनिष्ट होता है। थोड़ा भी आघात मुझे विचलित कर देता है, क्योंकि मैं स्वार्थपरायण रहने का कितना भी प्रयत्न करूँ, दूसरे का हानि-लाभ देखते ही मेरा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। इस बार मैंने आत्म-लाभार्थ दृढ़ संकल्प कर लिया था, परन्तु एक गुरुभाई की बीमारी का संवाद पाकर मुझे इलाहाबाद दौड़ना पड़ा। अब हृषीकेश से सूचना मिली है, इसलिये मेरा मन वहीं लगा है। ...

कमर का दर्द जरा भी ठीक नहीं हो रहा है, बहुत कष्ट है। कुछ दिनों से मैं पवहारी बाबा से मिलने नहीं जा रहा हूँ। पर उनकी बड़ी कृपा है कि वे प्रतिदिन किसी को भेजकर मेरी खोज-खबर लेते रहते हैं। पर अब तो मैं देखता हूँ 'उल्टा समुझलीं राम' – पहले मैं उनके द्वार का भिखारी था, अब वे ही मुझी से कुछ सीखना चाहते हैं! लगता है कि ये सन्त अभी पूर्ण सिद्ध नहीं हुए हैं; क्योंकि ये बहुत से कर्म, व्रत, आचार आदि मानते हैं; गुप्त भाव तो बहुत ही अधिक है।...

यहाँ ठहरने से मैं मलेरिया से मुक्त हो गया हूँ। केवल कमर की पीड़ा ने मुझे बेचैन कर रखा है। दर्द दिन-रात बना रहता है और मुझे बहुत बेचैनी रहती है।... मैंने बाबाजी में अद्भुत तितिक्षा देखी है और इसीलिए मैं उनके कुछ प्रसाद का भिक्षुक हूँ, पर वे कुछ देना नहीं चाहते, केवल मुझसे ही ले रहे हैं। इसलिए मैं भी चला।

अब किसी बड़े आदमी के पास न जाऊँगा। कवि कमला-कान्त कहते हैं – "रे मन, तू अपने में ही स्थिर रह।"...

अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अहैतुक दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में और कहाँ? या तो वे अपने कथानुसार अवतार हैं अथवा वेदान्त दर्शन के नित्यसिद्ध महापुरुष हैं, जिनके लिये कहा गया है – **लोकहिताय मुक्तोऽपि शरीर-ग्रहणकारी,** निश्चित निश्चित **इति मे मतिः**। ऐसे महापुरुष की उपासना के विषय के पातंजल-सूत्र के **ईश्वर-प्रणिधानाद्वा** से या के किंचित् परिवर्तित रूप में **महापुरुष-प्रणिधानाद्वा** कहकर उल्लेख किया जा सकता है।[३८]

गाजीपुर, १५ मार्च, १८९०। मैं कल यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ – देखना है कि भाग्य कहाँ ले जाता है।[३९]

गाजीपुर, ३१ मार्च, १८९०। मैं पिछले कई दिनों से यहाँ नहीं था और आज फिर बाहर जा रहा हूँ। मैंने गुरुभाई गंगाधर (अखण्डानन्द) को यहाँ बुलाया है और यदि वह आता है, तो हम दोनों साथ-साथ आपके यहाँ आयेंगे। कुछ विशेष कारणों से मैं इस स्थान से कुछ दूरी पर एक गाँव में गुप्त वास करूँगा। ... उसके पहुँचने का संवाद नहीं मिला और चूँकि उसका स्वास्थ्य ठीक न था, इसलिए मैं उसके लिए थोड़ा चिन्तित हूँ। मैंने उसके साथ बड़ी निष्ठुरता बरती अर्थात् मैंने उसे इतना परेशान किया कि उसे मेरा साथ छोड़ना पड़ा। आप जानते हैं कि दूसरा कोई चारा नहीं है, क्योंकि मैं अत्यन्त दुर्बल हृदय हूँ और प्रेमजन्य विक्षेपों से पराभूत हो जाता हूँ! ... मैं अपने मन की दशा आपसे क्या कहूँ! वह ऐसा है, मानो रात-दिन उसमें नरक की ज्वाला जल रही हो। कुछ भी नहीं, अभी तक मैं कुछ भी नहीं कर सका! यह जीवन व्यर्थ में उलझ गया प्रतीत होता है। मैं पूर्णरूपेण किंकर्तव्य-विमूढ़ हूँ! बाबाजी मधुसिक्त शब्दों की वर्षा करते हैं और मुझे जाने से रोकते हैं। आह, मैं क्या कहूँ? मैं आपके प्रति सैकड़ों अपराध कर रहा हूँ, कृपया

उन्हें मानसिक व्यथा से पीड़ित एक पागल की भूलें समझकर क्षमा करें। ... मेरे गुरुभाई अवश्य ही मुझे कठोर और स्वार्थी समझते होंगे। ओह, मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे मन की गहराई में पैठकर कौन देख सकता है? कौन जानता है कि मैं रात-दिन कैसी यंत्रणा भोग रहा हूँ? ...

मेरी कमर का दर्द पहले जैसा ही है।[४०]

बागबाजार, २६ मई, १८९०। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि मैं श्रीरामकृष्ण के चरणों में आत्मसमर्पण करके उनका गुलाम हो गया हूँ। मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। चालीस वर्ष तक अविराम कठोर त्याग, वैराग्य और पवित्रता की कठिन साधना और तपस्या के द्वारा अलौकिक ज्ञान, भक्ति, प्रेम और विभूतिमान होकर भी उन महापुरुष ने असफलता में ही शरीर त्याग किया – यदि ऐसा माना जाय, तो हम लोगों को और किसका भरोसा? अत: हम उनकी वाणी को आप्तवाक्य मानकर उस पर विश्वास करते हैं।

मेरे लिए उनकी आज्ञा यह थी कि मैं उनके द्वारा स्थापित त्यागी-मण्डली की सेवा करूँ। मुझे निरन्तर इस कार्य में लगे रहना होगा; फिर चाहे जो हो – स्वर्ग, नरक, मुक्ति या और कुछ – मुझे सब स्वीकार होगा।

उनका आदेश था कि उनकी त्यागी भक्त-मण्डली एकत्रित हो और उसका भार मुझे सौंपा गया था। नि:सन्देह यदि हममें से कोई इधर-उधर यात्रा करे, तो इसमें कोई हानि नहीं, परन्तु यह यात्रा मात्र होगी। उनका विश्वास था कि जिसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो गयी है, उसी का यहाँ-वहाँ घूमना शोभा देता है। जब तक सिद्धि प्राप्त न हो, तब तक एक जगह बैठकर साधना करनी चाहिए। जब देह आदि के भाव अपने आप छूट जायँ, तब साधक जो चाहे सो कर सकता है। नहीं तो इधर-उधर घूमते रहना साधक के लिये अनिष्टकारी है।

अत: उक्त आज्ञानुसार उनकी संन्यासी-मण्डली वराहनगर के एक जीर्णशीर्ण मकान में एकत्र हुई है और उनके दो गृहस्थ शिष्यों – सुरेशचन्द्र मित्र तथा बलराम बोस ने इस मण्डली के भोजन और किराये आदि का भार ले लिया है।

कुछ कारणों से (अर्थात् ईसाई राजा के विचित्र कानून से बाध्य होकर) भगवान श्रीरामकृष्ण के शरीर का अग्नि-संस्कार करना पड़ा। नि:सन्देह यह कार्य बड़ा गर्हित था। उनके अस्थि-अवशेष तथा राख सुरक्षित रखे हैं। यदि उन्हें कहीं गंगाजी के तट पर उचित रीति से स्थापित किया जा सके, तो मेरे विचार से कुछ हद तक उस पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा। हमारे मठ में प्रतिदिन नियमानुसार उन पवित्र अस्थियों, उनकी गद्दी तथा उनके चित्र की पूजा होती है और हमारे एक ब्राह्मण-कुलोद्भव गुरुभाई दिन-रात उक्त कार्य में लगे रहते हैं। इस पूजा का खर्च भी उपर्युक्त दोनों महात्मा चलाते थे।

कितने दु:ख की बात है कि जिन महापुरुष के जन्म से हमारी बंगजाति तथा बंगभूमि पवित्र हुई है, जिनका जन्म इस पृथ्वी पर भारतवासियों को पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक से सुरक्षित रखने के लिए हुआ और इसलिए जिन्होंने अपनी त्यागी-मण्डली में अधिकांश विश्वविद्यालय के छात्रों को लिया, उनका उस बंगदेश में उनकी साधना-भूमि के निकट कोई स्मारक स्थापित न हो सका।

उपर्युक्त दोनों सज्जनों की यह प्रबल इच्छा थी की गंगातट पर थोड़ी-सी जमीन खरीदकर वहाँ पवित्र अस्थियों को समाधिस्थ करें और शिष्य-मण्डली वहीं एक साथ निवास करे। इसके लिए सुरेश बाबू ने एक हजार रुपये की रकम दे दी थी, आगे और भी देने का वचन दिया था, परन्तु ईश्वर के किसी गूढ़ अभिप्राय से उन्होंने कल इह-लोक का त्याग कर दिया। बलराम बाबू की मृत्यु का हाल आप पहले से ही जानते हैं।

अभी तक यह अनिश्चित है कि श्रीरामकृष्ण की शिष्य-मण्डली उस पवित्र भस्मावशेष तथा गद्दी को लेकर कहाँ जाय।... शिष्यगण सब संन्यासी हैं और जहाँ कहीं उन्हें ठौर मिले, जाने को तैयार हैं। पर मैं उनका सेवक इस दु:ख का अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान् श्रीरामकृष्ण की अस्थियों की स्थापना के लिए थोड़ी-सी भी जमीन गंगा-किनारे न मिल सकी और इस विचार से मेरा हृदय टूक-टूक हो जाता है।...

अपने प्रभु तथा उनकी सन्तानों के लिए द्वार-द्वार भिक्षा माँगने में मुझे जरा भी संकोच नहीं।... मेरे मतानुसार यदि ये सच्चे, सुशिक्षित सद्वंशजात युवा संन्यासी स्थान तथा सहायता के अभाव में भगवान श्रीरामकृष्ण के आदर्श भाव को प्राप्त न कर सकें, तो यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है।

यदि आप कहें, "आप संन्यासी हैं, आपको ऐसी इच्छा क्यों?" – तो मैं कहूँगा कि मैं श्रीरामकृष्ण का सेवक हूँ और उनके नाम को उनकी जन्म एवं साधना की भूमि में चिर-प्रतिष्ठित रखने के लिए और उनके शिष्यों को उनके आदर्श की रक्षा में सहायता पहुँचाने के लिए मुझे चोरी और डकैती भी करनी पड़े, तो मैं उसके लिए भी राजी हूँ। ...

इसी कारण मैं कलकत्ता लौट आया हूँ।[४१]

बागबाजार, ६ जुलाई, १८९०। इस बार मेरा गाजीपुर छोड़ने का विचार नहीं था, पर काली (स्वामी अभेदानन्द) की बीमारी का समाचार पाकर मुझे वाराणसी जाना पड़ा और बलराम बाबू की आकस्मिक मृत्यु ने मुझे कलकत्ते आने को विवश किया।... मेरा शीघ्र यानी राहखर्च की व्यवस्था होते ही अल्मोड़ा जाने का विचार है। वहाँ से गढ़वाल में कहीं जाकर कुछ दिन गंगा-तट पर रहने की अभिलाषा है; गंगाधर मेरे साथ जा रहा है। कहना न होगा कि मैंने उसे विशेषकर

इसीलिए काश्मीर से बुला लिया है। ...

मैं देख रहा हूँ कि तुम लोगों के लिए जो सर्वाधिक आवश्यक कार्य था, तुमने वही नहीं किया, तात्पर्य यह कि कमर कस लो और जमकर ध्यान में बैठ जाओ। मेरी धारणा है कि ज्ञान-प्राप्ति इतनी सरल नहीं है कि मानो किसी सोती हुई युवती को यह कहकर जगा दिया गया कि उठ गोरी, तेरा ब्याह रचाया जा रहा है और वह तत्काल उठ बैठी। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि किसी भी युग में दो-चार से अधिक व्यक्तियों को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए हम लोगों को निरन्तर इस कार्य में जुटे रहने तथा अग्रसर होने की आवश्यकता है; इसमें यदि मृत्यु का आलिंगन करना पड़े, तो वह भी स्वीकार है। तुम तो जानते ही हो, यही मेरा पुराना पथ है। आजकल के संन्यासियों में ज्ञान के नाम पर ठगी का जो व्यापार चल रहा है, उसकी मुझे खूब जानकारी है।...

मेरा स्वास्थ्य अब काफी ठीक है। गाजीपुर में रहने से जो लाभ हुआ है, आशा है वह कुछ समय अवश्य टिकेगा।... अब मुझे पवहारी बाबा या अन्य किसी के पास नहीं जाना है। वे लोगों को सर्वोच्च उद्देश्य से विचलित कर देते हैं। इसलिए एकदम ऊपर की ओर (पहाड़ों में) जा रहा हूँ।[४२]

अपरिचित संन्यासी के रूप में भारत-भ्रमण

मैं एक बार हिमालय का भ्रमण कर रहा था। सामने लम्बा रास्ता फैला था। हम लोगों के समान गरीब साधुओं के लिए तो कोई और वाहन मिलता नहीं है; इसलिए हम लोगों को सारा रास्ता पैदल ही चलना पड़ता था। हमारे साथ एक वृद्ध साधु थे। वे पहाड़ी रास्ते की चढ़ाई-उतराई करते हुए सैकड़ों मील चले थे। वृद्ध ने एक चढ़ाई पर चढ़कर जब देखा कि सामने और भी कई बार चढ़ना होगा, तो वे निराशा से भरकर कह उठे, "महाराज, इतना लम्बा रास्ता कैसे जाऊँगा? मैं तो और चल ही नहीं पा रहा हूँ – मेरी छाती फट जाएगी।" मैंने उनसे कहा, "अपने पाँवों की ओर देखिए तो!" उनके वैसा ही करने पर मैं बोला, "आपके पाँवों के नीचे जो सड़क है, उसे आप पार कर चुके हैं; अपके सामने जो सड़क दिखायी पड़ रही है, वह भी वही है; और वह भी शीघ्र आपके पाँवों के नीचे आ जायगी।" उच्चतम वस्तुएँ तुम्हारे पाँवों के तले हैं, क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। यदि तुम चाहो, तो नक्षत्रों को मुट्ठियों में भरकर चबा सकते हो। ऐसा है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप! बलवान बनो, सब अन्धविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त हो जाओ।[४३]

अनेकों बार मैं मृत्यु-मुख में पड़ा हूँ, क्षुधातुर रहा हूँ, पैर फटे हैं और थकावट आयी है; लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और प्राय: मैं एक पग भी नहीं चल सकता था; तब मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा लगता कि प्राण अब निकले, तब निकले। बोलना मेरे लिये कठिन हो जाता और मैं विचार तक नहीं कर पाता था। अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, "मुझे डर कहाँ? मैं कैसे मर सकता हूँ! मुझे न कभी भूख लगती है, न प्यास। मैं तो वही हूँ – **सोऽहम्**। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता, वह तो मेरा दास है। हे परमेश्वर! हे देवाधिदेव! तू अपनी हुकूमत चला और हाथ से गया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर! उठ खड़ा हो, चल और बीच में ठहर मत!" ऐसा विचार आते ही मैं नव चेतना पा उठ खड़ा होता; और यह देखो, आज तुम लोगों के सामने जीता-जागता खड़ा हूँ। इस तरह जब-जब अन्धकार का आक्रमण हो, तो अपनी आत्मा पर बल दो; इससे जो कुछ प्रतिकूल है, वह लुप्त हो जायगा।[४४]

एक बार मैं काशी में एक रास्ते से गुजर रहा था। वहाँ एक ओर एक विशाल तालाब और दूसरी ओर एक ऊँची दीवार थी। वहाँ बहुत-से बन्दर थे। काशी के बन्दर दीर्घकाय और कभी-कभी बड़े दुष्ट भी होते हैं। उन्होंने मुझे उस रास्ते से न जाने देने का निश्चय किया। अत: जब मैं उधर पहुँचा, तो वे विकट चीत्कार करते हुए आकर मेरे पैरों से चिपकने लगे। उनको देखकर मैं भागने लगा, परन्तु मैं जितनी तेजी से दौड़ता, वे उससे भी अधिक तीव्र गति से आकर मुझे काटने लगे। उनके हाथ से बच निकलना मुझे असम्भव प्रतीत हुआ। सहसा तभी एक अपरिचित व्यक्ति ने मुझे आवाज दी, "बन्दरों का सामना करो।" मैं जैसे ही पलटकर उनके सामने खड़ा हुआ, वैसे ही वे पीछे हटकर भाग गये। जीवन में हमें यही शिक्षा लेनी होगी – जो कुछ भयानक है, उसका सामना करना होगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। जैसे बन्दरों के सामने से न भागकर उनका सामना करने पर वे भाग गये, वैसे ही हमारे जीवन में जो भी कठिनाइयाँ हैं, उनका सामना करने पर वे भाग जाती हैं।[४५]

सन्दर्भ-सूची – ❖ (क्रमश:) ❖

३७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३६७; **३८.** वही, खण्ड १, पृ. ३६४-६५; **३९.** वही, खण्ड १, पृ. ३७०; **४०.** वही, खण्ड १, पृ. ३७१; **४१.** वही, खण्ड १, पृ. ३७३-७४; **४२.** वही, खण्ड १, पृ. ३७७; **४३.** वही, खण्ड ९, पृ. १५७; **४४.** वही, खण्ड ९, पृ. १२७-२८; **४५.** वही, खण्ड २, पृ. २९७-९८

कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है

स्वामी आत्मानन्द

श्रीमद् भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के ४६ वें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कर्म के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

– "तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, उनके फलों में कभी भी नहीं । तू कर्मफल-प्राप्ति का कारण मत बन और न तेरी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो ।"

इस श्लोक को कर्मयोग की चतु:सूत्री कहा गया है – यानी चार सूत्रों में कर्मयोग के समूचे सिद्धान्त का प्रतिपादन । कर्मयोग का अर्थ है – कर्म के माध्यम से ईश्वर से, सत्य से, आत्मा से, अपने स्वरूप से योग साधित कर लेना । मानव-जीवन का लक्ष्य ही ईश्वर से योग माना गया है ।

कर्मयोग की इस चतु:सूत्री का पहला सूत्र कर्म करने पर जोर देता है, कहता है कि मनुष्य का अधिकार कर्म करने में है । यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है, तो यह कहने की क्या आवश्यकता हो सकती है कि कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार है? उत्तर में कहा जा सकता है कि दूसरे सूत्र की बात को प्रभावी ढंग से रखने के लिए यह कहकर भूमिका बनायी गयी है । दूसरे सूत्र में कहा कि फल में अधिकार कदापि नहीं है । इन दोनों सूत्रों को एक साथ जोड़ने से, पहले सूत्र की बात समझ में आती है । मनुष्य जब कर्म करता है, तो स्वाभाविक ही उसके फल की उसे चाह होती है । बिना फल की इच्छा के व्यक्ति कर्म करेगा ही क्यों? जिसे निष्काम कर्मयोग कहा जाता है, वह ऊँची अवस्था है, वह एकदम से किसी को नहीं मिल जाती । उसके लिए साधना करनी पड़ती है; और हमारा यह विवेच्य श्लोक उस साधना की प्रक्रिया को चार सूत्रों के माध्यम से हमारे समक्ष रखता है ।

साधना का पहला सोपान कर्म करने की अनिवार्यता बतलाता है । बिना कर्म किये कोई व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता । गीता में ही अन्यत्र भगवान कृष्ण कहते हैं –

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः । ।

– कोई व्यक्ति बिना कर्म किये यदि क्षण भर भी बैठना चाहे, तो प्रकृति के गुण उसे बैठने नहीं देते । जब मनुष्य को क्रियाशील होना ही है, तो वह किस प्रकार से कर्म करे, जिससे उसका कर्म कर्मयोग बन जाय, यही आगे के तीन सूत्रों में बतलाया गया है ।

दूसरा सूत्र साधना का दूसरा सोपान है । कर्म तो अपने समूचे अधिकार से करो, पर फल पर अपना अधिकार जताने की वृथा चेष्टा मत करो, क्योंकि फल का अधिकार तुम्हारा नहीं है । यह सुनकर कोई पूछ सकता है कि जब कर्म हमने किया, तब फल पर हमारा अधिकार क्यों न होगा? इसका उत्तर यह है कि कर्म का जो भी फल होगा, वह तो कर्म के अटल सिद्धान्त के अनुसार तुम्हें मिलेगा ही, पर फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है ।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट करें । एक लड़का परीक्षा देकर घर आता है । उसने परचा लिखना रूप जो कर्म किया, उसका फल तो उसे मिलेगा ही, पर यदि वह फल पर अधिकार जमाए तो वह अनुचित बात होगी । लड़का सोचता है कि उसे ८०%अंक मिलने चाहिए । पर अंक देने का अधिकार उसका नहीं, परीक्षक का है । हो सकता है कि उसे ४०%अंक ही प्राप्त हों । यही तर्क यहाँ भी लागू होता है । मैं समझता हूँ कि मैंने काम अच्छा किया है, इसलिए मुझे ऐसा फल मिलना चाहिए । पर फलप्रदाता ईश्वर जानते हैं कि मेरा कर्म कैसा हुआ है । वे मेरे कर्म की गुणवत्ता के आधार पर फल देते हैं । इसीलिए दूसरा सूत्र कहता है कि फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है । जैसे विद्यार्थी परीक्षक का अधिकार स्वयं लेना चाहे, तो वह सर्वथा अनुचित है, वैसे ही मनुष्य की फल पर अधिकार जमाने की चेष्टा भी अनुचित है ।

तीसरा सूत्र कहता है कि तुम कर्मफल के हेतु मत बनो । कर्मफल का हेतु बनना मानो फल को पाने की चेष्टा करना । दूसरे सूत्र में सिद्धान्त बतलाया । तीसरे में उसका व्यवहार प्रदर्शित है । फल का अधिकार तुम्हें नहीं, इसलिए तुम्हें कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए । कर्मफल का कारण कर्म के अटल सिद्धान्त को ही बनने दो ।

चौथा सूत्र कहता है कि यह सब सुनकर तुममें ऐसी प्रतिक्रिया भी न आवे कि तुम कर्म करना ही छोड़ दो । ऐसा न कहो कि जब फल से मेरा सरोकार नहीं, तब कर्म ही भला क्यों करूँ? रजोगुण कहता है कि कर्म करूँगा तो फल लेकर ही करूँगा । तमोगुण कहता है कि फल पर अधिकार छोड़ना है तो मैं कर्म को ही छोड़े देता हूँ । भगवान कृष्ण कहते है – तुम सत्त्वगुणी बनो, क्योंकि सत्त्वगुण कहता है – कर्म करो, परन्तु फल का अधिकार ईश्वर पर छोड़ दो ।

❑❑❑

साधना, शरणागति और कृपा (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग ।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ।।१/१४३।।
करहिं अहार साक फल कंदा । सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ।।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे । बारि अधार मूल फल त्यागे ।।
उर अभिलाष निरंतर होई । देखिअ नयन परम प्रभु सोई ।।
अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथबादी ।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानंद निरुपाधि अनूपा ।।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीलातनु गहई ।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ।।
एहि विधि बीते बरष षट सहस बारि आहार ।
संबत सप्त सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार ।। १/१४४

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य समुपस्थित सन्तों के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ और आप सब देवियों तथा भक्तों का अभिनन्दन, स्वागत।

महाराज मनु के जीवन तथा साधना की जो गाथा गोस्वामीजी ने प्रस्तुत की है, उसके माध्यम से उन्होंने मानो सारे मानव जाति का मार्गदर्शन किया है, क्योंकि मनु मानव जाति के आदि-पुरुष हैं और उनके जीवन में जो विकास का क्रम दीखता है, वह सबके लिए उपादेय है। महाराज मनु पहले जीवन में एक राजा के रूप में अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। प्रजा को संरक्षण देते हैं। लोगों को धर्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में, जो परम आवश्यक सबसे पहली कक्षा है, उसका पालन किया।

लक्ष्मणजी जैसा विलक्षण तथा अनन्य भक्त दूसरा कोई है ही नहीं। उन्होंने भी जब भगवान राम से प्रश्न किया – भक्ति का मार्ग क्या है? तो भगवान ने उत्तर का श्रीगणेश करते हुए कहा – भक्ति के लिये आवश्यक है कि सबसे पहले ब्राह्मणों के चरणों से प्रेम किया जाय –

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।। ३/१५/६

आज के चिन्तन में लोगों को यह बात बड़ी विचित्र-सी लगती है। कई बार लोग कहा करते हैं कि तुलसीदास तो ब्राह्मण थे; उन्होंने ब्राह्मणवाद का विस्तार किया। परन्तु आप इसे उस दृष्टि से न देखें। राम-चरित-मानस में ऐसे भी प्रसंग हैं, जहाँ ब्राह्मणों की कठोर आलोचना की गई है –

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी ।
निराचार सठ बृषली स्वामी।। ७/१००/८

– ब्राह्मण अपढ़, लोभी, कामी, अनाचारी, मूर्ख और नीची जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी होते हैं।

इस एक पंक्ति को पढ़कर ही आप कोई निष्कर्ष न निकाल लें। गोस्वामीजी के कथन का सरल तात्पर्य यह है कि जब आप किसी पाठशाला में पढ़ने के लिए जाते हैं, जब किसी से शिक्षा प्राप्त करते हैं, तो स्वाभाविक ही है कि आपके मन में शिक्षक के प्रति सम्मान होना चाहिए। इसे जाति के सन्दर्भ में न देखें, क्योंकि भगवान राम अगला सूत्र देते हैं कि व्यक्ति को अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि व्यक्ति सबसे पहले यह जानने की चेष्टा करे कि धर्म क्या है। वह जिन लोगों के माध्यम से धर्म को जानने की चेष्टा करता है; वे ही विप्र हैं, वन्दनीय हैं, गुरु हैं और पूज्य हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि जिनसे उसे धर्म का स्वरूप जानना है, उनके चरणों में नमन करे। भगवान का अगला वाक्य है – प्रत्येक व्यक्ति अपने शास्त्र-सम्मत स्वधर्म को जानकर, उसका अपने जीवन में पालन करे –

निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ।। ३/१५/६

फिर भगवान कहते हैं कि जब व्यक्ति स्वधर्म का पालन करेगा, तो उसके जीवन में वैराग्य का उदय होगा और वैराग्य के बाद भगवान के चरणों में अनुराग होगा।

एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा ।
तब मम धर्म उपज अनुरागा ।।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं ।
मम लीला रति अति मन माहीं ।।
संत चरन पंकज अति प्रेमा ।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ।। ३/१५/७-९

इस प्रकार भगवान ने भक्ति का निरूपण किया। बताया कि व्यक्ति भक्ति की दिशा में क्रमश: कैसे आगे बढ़े।

जिस परिवार में हमारा जन्म हुआ है, उस परिवार के प्रति, अपने माता-पिता के प्रति हमारे मन में कृतज्ञता का उदय हो। हमारे अन्त:करण में यह ध्यान बना रहे कि जिस माता ने मुझे गर्भ में धारण किया, जिसने मेरा पालन-पोषण

किया, मेरे लिये इतना कष्ट उठाया, उसके प्रति मुझे कितना ऋणी होना चाहिए। जो व्यक्ति कृतज्ञता के रूप में इस पाठ का ध्यान रखता है, वह स्वार्थ-केन्द्रित नहीं हो जाता, केवल अपनी ही चिन्ता में नहीं डूब जाता। इस **कृतज्ञता-वृत्ति का विस्तार ही भक्ति है।** हमें माता के प्रति श्रद्धा-भक्ति, पिता के प्रति सम्मान, भाइयों-परिवार तथा समाज के प्रति प्रेम करना चाहिए, यदि हम इस बात का ध्यान रखेंगे; और इन कर्तव्य-कर्मो के साथ-साथ जब हम और भी अन्तरंग में प्रविष्ट होंगे, तो हमें उस सूत्र का बोध होगा, जो सीताजी और भगवान राम के संवाद में सामने आया।

भगवान वन की ओर प्रस्थान करनेवाले हैं। सीताजी ने यह समाचार सुना, तो वे व्याकुल होकर श्रीरामभद्र के पास आईं। रामभद्र कौशल्या अम्बा के पास बैठे हुए हैं। किशोरीजी वहाँ पहुँच जाती हैं, पर संकोचवश बोल नहीं पातीं। कौशल्याजी भी सीताजी की भावना को समझती हैं। वे श्रीराम से कहती हैं, "तुम अपने कर्तव्य का पालन करने हेतु वन जा रहे हो, तो मैं कोई आपत्ति नहीं करूँगी। पिता की आज्ञा का पालन अवश्य करो; विशेषकर तुम्हारी माता कैकेयी ने भी तुम्हें वन जाने का आदेश दिया है, तो मुझे विश्वास है कि तुम्हारे लिये वन जाना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।" पर इसके साथ ही उन्होंने कहा, "मेरी पुत्रवधू अत्यन्त सुकुमार है और इसका लालन-पालन बड़े स्नेह से – बड़े वात्सल्य से किया है; मैं चाहती हूँ कि तुम सीता को ऐसी शिक्षा दो कि वह यहीं रुक जाय, तुम्हारे साथ वन में न जाय। यह यदि हमारे साथ यहाँ रह जायगी, तो हम लोगों के लिए एक बड़ा सहारा होगा।"

भगवान ने उस समय सीताजी को उनके कर्तव्य-कर्म का उपदेश दिया। वन के कष्टों का वर्णन किया। बताया कि वन में कितना कष्ट है, कितनी पीड़ा है और इसके बाद उन्होंने कहा, "केवल कष्टों के कारण ही मैं तुम्हें घर में रुकने को नहीं कह रहा हूँ। यहाँ भी तो तुम्हारे कर्तव्य हैं। यहाँ माता कौशल्या हैं, महाराजश्री दशरथ हैं और हमारे परिवार के अन्य सदस्य हैं; यदि मैं वन में जाकर पिता की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ, तो तुम तो यहाँ पर रहो और सबकी सेवा करो और साथ ही जब कभी मेरी माँ मेरे वियोग में बहुत व्याकुल होंगी, तब तुम कोई मीठी कथा सुनाकर उनकी पीड़ा को शान्त करना। यह तुम्हारे लिये परम उपादेय है।" –

राजकुमारि सिखावन सुनहू।
आन भाँति जिय जनि कछु गनहूँ।।
आपन मोर नीक जनु चहहु।
बचन हमारि मानि घर रहहु।।
आयुस मोर सासु सेवकी।
सब बिधि भामिनि भवन भलाई।। २/६१/२-४

इस प्रकार भगवान राम ने सीताजी को धर्म का उपदेश देते हुए वन की पीड़ाओं का भी वर्णन किया – तुम तो कभी वन में गई नहीं हो, इसलिये नहीं जानती कि पर्वत की गुफाएँ, खोह, नदियाँ, नाले आदि इतने विशाल और गहरे हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता। भालू, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसी भयानक चीत्कार करते हैं कि आदमी का धैर्य छूट जाता है। वन की विभीषिका याद आते ही धीर पुरुष भी विचलित हो जाते हैं और तुम तो स्वभाव से ही भीरु हो। तुम वन के योग्य नहीं हो। तुम्हें वन में साथ ले जाने की बात सुनकर लोग मेरी ही निन्दा करेंगे –

कन्दर खोह नदी नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे।।
भालु बाघ बृक केहरि नागा।
करहिं नाद सुनि धीरजु भागा।। २/६२/७-८
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।।
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।
सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू।।
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली।
जिअइ कि लवन पयोधि मराली।।
नव रसाल वन बिहरनसीला।
सोह कि कोकिल बिपिन करीला।। २/६३/४-७

इस प्रकार प्रभु ने एक ओर तो वन के कष्टों का वर्णन किया और साथ ही कहा – "यहाँ रहकर तुम अपने कर्तव्य का ही पालन करोगी। सास-ससुर की सेवा करना महान् कर्तव्य है। पतिव्रता स्त्री को क्या केवल अपने पति की ही सेवा करना चाहिए। पति से प्रगाढ़ प्रेम करते हुए भी, उसके नाते से वह सबके प्रति स्नेह करे, यही उसका कर्तव्य है।"

सीताजी ने जिस शब्दों में उत्तर दिया, उसमें धर्म के दो बड़े महत्त्वपूर्ण सूत्र आते हैं। धर्म में परस्पर-विरोधी बातें आती ही हैं, पर मुख्य प्रश्न यह है कि हम उनमें से अपने लिए किसका चुनाव करें। यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है कि यदि हम वही वाक्य चुन लें, जिससे हमारे स्वार्थ, हमारी भोग-भावना, हमारी तृष्णा की पूर्ति हो रही हो, तो यह तो धर्म के प्रति बड़ा अनादर होगा – अनुचित होगा।

बड़े सूक्ष्म संकेत हैं। गुरु वशिष्ठ ने जब भरतजी से कहा – "पिताजी की आज्ञा का पालन करना ही धर्म है और उस धर्म को तुम्हारे बड़े भ्राता राम ने स्वीकार कर लिया है। यदि वे पिता की आज्ञा को धर्म-विरुद्ध मानते होते, तो वन नहीं जाते। अब एक आज्ञा और बची हुई है, जिसका पालन तुम्हें करना है।" भरतजी में यदि स्वार्थ भावना होती, जैसा कि अधिकांश लोगों में होती है, तो वे कह देते – "जब हमारे आप जैसे गुरु कह रहे हैं कि यही धर्म है – पिता की आज्ञा पालन करना महत्त्वपूर्ण है, तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ।"

पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। तब भरतजी ने धर्म का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, जिसे भुला देने पर व्यक्ति धर्म को छल के रूप में ले लेता है।

गुरु-आज्ञा की इस अस्वीकृति के पीछे भरतजी का सूत्र क्या है – महाराज, भगवान श्रीराम ने भी पिता की आज्ञा को स्वीकार अवश्य किया, पर एक को किया और दूसरी को नहीं किया। – कैसे? बोले – दशरथजी ने सुमन्त को रथ के साथ भेजा और कहा कि मैं चाहूँगा कि राम केवल चार दिन वन में भ्रमण करके लौट आवें और उस चार दिन को ही मैं चौदह वर्ष मान लूँगा। जब वह वाक्य कहा गया, तो श्रीराम के लिए मार्ग खुला हुआ था, वे कह सकते थे कि मैं तो उनकी आज्ञा से ही वन जा रहा हूँ। और वे स्वयं आज्ञा में संशोधन करते हुए मुझसे लौटने के लिए कह रहे हैं, तो ठीक है मैं चार दिन वन में घूमकर आ जाता हूँ।

उस प्रसंग में लक्ष्मणजी बड़े नाराज हुए थे। उन्हें पिताजी पर बड़ा क्रोध आया था और उस समय तो उन्होंने अयोध्या में उनसे एक भी कठोर वाक्य नहीं कहा। फिर सुमन्तजी का सन्देश सुनने के बाद भी लक्ष्मणजी को बहुत बुरा लगा। उन्होंने कहा – "अयोध्या में तो मैं यह मानकर चुप रहा कि पिताजी सत्यनिष्ठ हैं और सत्य को ही सर्वोच्च स्थान देते हैं, अत: उन्होंने सत्य के लिए श्रीराम का परित्याग कर दिया, तो चलो ठीक है! भले ही मैं भगवान को मुख्य मानता हूँ, उनसे भिन्न किसी और को सत्य नहीं मानता, लेकिन मैंने पिताजी की इस धर्मनिष्ठा को स्वीकार कर लिया और मौन रह गया। परन्तु आज का उनका वाक्य सुनकर लगता है कि न तो वे धार्मिक हैं, न प्रेमी और न भक्त!" लक्ष्मणजी बड़ी तेजस्वी भाषा में बोलते हैं। बोले – "अगर धार्मिक होते, तो यह चार दिन में चौदह वर्ष पूरे हो जायेंगे, यह जो नया मार्ग इन्होंने खोल दिया, क्या यही धर्म का तत्त्व है?"

हम लोग जीवन में ऐसे ही कोई सूत्र ढूढ़ते हैं कि जिससे हमारा धर्म भी बचा रहे और हमारी इच्छाएँ भी पूरी होती रहें। निर्जला व्रत में जब महिलाओं को प्यास लगती है, तो वे बर्तन को हाथ लगाये बिना ही चौड़े मुँहवाले बर्तन में रखे हुए जल को सीधे मुँह लगाकर पी लेती हैं। विधान है कि निर्जला व्रत में जल नहीं पीना चाहिए। पूछा गया कि यह क्या कर रहीं हैं, तो उन्होंने यही कहा कि व्रत में विधान है कि जल नहीं पीना चाहिए और प्यास असह्य है, तो हाथ में बर्तन लेकर पीयेंगे, तो व्रत भंग होगा, क्योंकि मनुष्य ऐसे ही जल पीता है। तो हम पशु की तरह जल पी रहे हैं। व्रत भी बच गया और प्यास भी मिट गई। तो मनुष्य धर्म में भी इसी तरह की कोई-न-कोई चतुराई ढूँढ़ता रहता है।

"चार दिन में चौदह वर्ष पूरे हो जायेंगे – यह कौन-सा धर्म है? कैसे सत्यवादी हैं? यदि वे सत्य के लिये कह रहे हैं, तो चौदह वर्ष यानी चौदह वर्ष! यदि वे भक्त हैं और धर्म से बढ़कर श्रीराम को मानते हैं, तो तभी कह सकते थे कि मुझे सत्य और धर्म नहीं चाहिए, भले ही मुझे नरक में जाना पड़े, पर मैं राम को वन नहीं जाने दूँगा। यदि वे चौदह वर्ष का वन स्वीकार कर लेते, तो मानता कि धर्मनिष्ठ हैं; परन्तु मुझे तो लगता है कि वे न प्रेमनिष्ठ हैं और न धर्मनिष्ठ। आज पता चल गया कि वे प्रेमी भी बने रहना चाहते हैं और धार्मिक भी बने रहना चाहते हैं, परन्तु हैं कुछ भी नहीं।"

भगवान बड़े शीलवान हैं, चिन्तित हो गये कि सुमन्तजी कहीं लक्ष्मण के ये वाक्य पिताजी को न सुना दें! वे बड़े प्रेम से सुमन्तजी से बोले – देखिए, बच्चों की बात पर ध्यान थोड़े ही देते हैं, मेरी शपथ है कि लक्ष्मण ने पिताजी के लिए जो भी कहा, उसे आप उन्हें बिल्कुल मत सुनाइएगा –

बार बार निज सपथ देवाई।
कहबि न तात लखन लरिकाई ।। १/१५२/८

लक्ष्मणजी तो अपनी स्वयं की बात कह रहे हैं। भगवान उन्हें अपने शील से रोकते हैं और उनका रोकना उनका धर्म ही है। लेकिन लक्ष्मण जी को बहुत बुरा लगा।

अगला रहस्य तब सामने आया, जब सुमन्तजी बोले – "आप लक्ष्मणजी के लिए कहते हैं कि यह इनका लड़कपन है, परन्तु आप तो बालक नहीं हैं। आप स्वयं तो यह मानते हैं न, कि उन्हीं की आज्ञा से जा रहे हैं? तो आपको पिताजी की आज्ञा स्वीकार करके चार दिन में लौट जाना चाहिए।" तब भगवान ने बड़े प्रेम से सुमन्तजी का हाथ पकड़ लिया और कहा – आप तो शास्त्र और धर्म के मर्म को जानते हैं –

मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा।
तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा ।। २/९५/२

भगवान ने सूत्र दिया – धर्म का उद्देश्य व्यक्ति के स्वार्थ या भोगों का समर्थन नहीं है। क्योंकि उसके समर्थन के लिये न तो ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है, न उपदेश की कोई जरूरत है। वह पाठ तो बिना पढ़ाए ही सब पढ़े हुए हैं। अपने स्वार्थ और अपनी कामनाओं की पूर्ति में कौन नहीं लगा है? तो धर्म का उद्देश्य व्यक्ति के स्वार्थ और भोग का समर्थन न करते हुए उसे धीरे-धीरे उनसे ऊपर उठाना है। अत: भगवान श्रीराम बोले – मैं तो चार दिन वाली नहीं, बल्कि चौदह वर्ष वाली आज्ञा ही मानूँगा। – क्यों?

भगवान श्रीराम आज्ञा पालन के लिये वन में गये, यह तो सब कहते हैं, लेकिन बात दूसरी थी। उनका सूत्र यह था कि चौदह वर्ष की आज्ञा देते समय हमारे धर्म-रक्षक पिता ने धर्म के अनुकूल आज्ञा दी, या मौन रहकर अपनी स्वीकृति दी। परन्तु चार दिन बाद लौटा लाने की बात तो उन्होंने नहीं, अपितु उनकी हृदय की ममता ने कही। मैं उनकी ममता की

आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। वे तो ममता के वशीभूत होकर बोल रहे थे कि कोई ऐसा मार्ग निकालो, जिससे मेरे बेटे को कष्ट से बचाया जा सके। श्रीराम ने कहा – आपको याद रखना चाहिए कि महाराज शिबि, दधीचि, हरिश्चन्द्र आदि ने धर्म-पालन के लिये असीम कष्ट सहे –

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा।। २/९५/३

धर्म व्यक्ति को त्याग सिखावेगा, क्लेश सहना सिखायेगा। यदि धर्म को केवल इस अर्थ में लेंगे कि अपने प्रत्येक स्वार्थ की पूर्ति के समर्थन में एक वाक्य ले लें, तब तो अनर्थ ही हो जायेगा। इसीलिए श्रीराम ने दोनों आज्ञाओं में केवल उस आज्ञा को चुना, जिसमें उन्हें त्याग करना है, कष्ट उठाना है।

जब श्रीभरत से भी राज्य लेने को कहा गया, तो उनसे भी कहा गया कि जब श्रीराम ने पिता की आज्ञापालन किया, तो आप क्यों नहीं मानेंगे? इस पर भरतजी का धर्मतत्त्व यह था कि एक आज्ञा त्याग की थी और दूसरी भोग की। पर श्रीराम ने त्यागवाली आज्ञा ही मानी। पिताजी यदि मुझे भी त्याग की आज्ञा दे गये होते, तो मैं मान लेता। पर भोग की आज्ञा दे गये हैं, तो मैं उसे स्वीकार करने में स्वतंत्र हूँ।

व्यक्ति को यह सूत्र ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम अपने ही किसी स्वार्थ के लिये धर्म की दुहाई दे रहे हों। न्यायालय में दोनों पक्ष यही सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि हमारा कार्य न्यायसंगत और कानून-सम्मत है। यदि हमारी यही चेष्टा है, तब तो धर्म का सही निर्णय नहीं हो सकता। अत: कर्तव्य और धर्म का सूत्र यह है कि वह व्यक्ति को क्रमश: त्याग और कष्ट सहन करने की दिशा में ले जाता है। यह सूत्र भगवान राम ने, श्रीभरत ने और रामायण सभी श्रेष्ठ पात्रों ने स्वीकार किया है।

इस स्थिति में भगवान राम जब जनकनन्दिनी सीता को उपदेश देते हैं, तो सीताजी ने उसे अस्वीकार करते हुए जो तर्क दिये, वे बड़े महत्त्व के हैं। उन्होंने कहा – यदि आप कहते हैं कि तुम्हें वन में कष्ट होगा, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप यह मानते हैं कि मेरा वन जाना अधर्म नहीं है। आप यह तो नहीं कह रहे हैं कि तुम मेरे साथ चलोगी, तो अधर्म होगा। आप कह रहे हैं कि वन में कष्ट होगा, तो महाराज, धर्म का पालन बिना कष्ट के होता है क्या? फिर मेरा प्रश्न यह है कि आप कहते हैं कि 'सीता, तुम बड़ी सुकुमारी हो', तो मैं पूछती हूँ कि क्या आप सुकुमार नहीं है? सारी सुकुमारता क्या मुझी में आ गई है? जब आप कष्ट उठा सकते हैं, तो क्या मैं कष्ट नहीं उठा सकती? इसलिए आपको तो ऐसी कठोर बात कहनी ही नहीं चाहिए।

सीताजी ने श्रीराम के इतने कोमल साहित्यिक वाक्यों के लिये कहा कि आप कितना कठोर बोल गये – अपने लिए तपस्या और मेरे लिये भोग। आपने यह कैसे कहा? –

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहि उचित तप मो कह भोगू।। २/६७/८

भगवान राम बोले – मैं कह रहा हूँ कि तुम अयोध्या में रहकर सास-ससुर की सेवा करो; यहाँ रहने से तुम परिवार में सभी की सेवा कर सकोगी। तो क्या ऐसा नहीं लगता कि मेरे साथ चलने में तुम कम लाभ वाला पक्ष स्वीकार कर रही हो? और जहाँ तुम्हें अधिक लोगों की सेवा का सुअवसर है, जो विशेष महत्त्व का है, उसे तुमने स्वीकार नहीं किया।

इस पर सीताजी ने जो उत्तर दिया, वह भी बड़े महत्त्व का है। व्यक्ति यदि केवल अपने परिवार की सेवा में ही रत रहे और उसके साथ-साथ यदि उस भावना का विस्तार न हो, तो इसके द्वारा अनर्थ और संघर्ष उत्पन्न होगा। यह सोचना कि हम अपने परिवार के लिये ही सब कुछ करेंगे, अन्य लोगों से हमारा कोई वास्ता नहीं है। तो इस मनोवृत्ति वाला व्यक्ति धर्म का बड़ा दुरुपयोग करेगा। सीताजी ने कहा – महाराज, मैं वन में सास-ससुर की सेवा करने के लिए ही तो जाना चाहती हूँ। – वन में सास-ससुर? – तब उन्होंने याद दिलाया – महाराज, वन में जो इतने मुनि हैं, क्या ये मुनि मेरे ससुर नहीं हैं? क्या मुनि-पत्नियाँ मेरी सास नहीं है?

सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर।। २/१४०/६

यही है धर्म-भावना का विस्तार। धर्म-भावना का विस्तार क्या है? पहले घर में ही माता-पिता दिखाई देते हैं और अब पराई स्त्री को जन्म देनेवाली माता के समान जानते हैं –

जननी सम जानहिं पर नारी।। २/१३०/६

मातृत्व का विस्तार हो गया। कर्तव्य का विस्तार हो गया। धर्म व्यक्ति को संकुचित बनाने के स्थान पर विस्तार की ओर ले जाता है। कौशल्या अम्बा ने कहा था कि मेरी पुत्री तो मानो अमृत की जड़ी है। और वन तो मानो विष का वन है। उन्होंने श्रीराम से पूछा – क्या विष की वाटिका में अमृत की जड़ी सुशोभित होगी?

बिष बाटिकाँ कि सोह सुत
सुभग सजीवनि मूरि।। २/५९

किशोरीजी ने प्रभु की ओर देखकर कहा – मेरी दृष्टि में यह तर्क, थोड़ा अविनय तो होगा, पर विचारणीय है कि यदि मैं अमृत की जड़ी हूँ, तो मेरी सबसे अधिक आवश्यकता तो विष की वाटिका में ही है। वहाँ लोगों को विष से कष्ट हो रहा है और यहाँ तो अमृत भरा ही हुआ है, तो यदि मुझे अमृत-वेलि कहा जा रहा है और वन को विष-वेलि कहा जा रहा है, तो वहीं मेरी अधिक आवश्यकता है। वहाँ वन में आपका कितना बड़ा परिवार है? वे मुनि, वहाँ के वनवासी, ये पशु-पक्षी – ये मेरे परिवार होंगे। और भोजन के लिये तो वहाँ अमृत के समान मधुर कन्द-मूल-फल हैं ही –

असनु अमिअ सम कंद मूल फर ।।
नाथ साथ साँथरी सुहाई ।
मयन सयन सय सम सुखदाई ।। २/१४०/६-७

भगवान राम सीताजी के वाक्यों का उत्तर नहीं दे सके। श्रीराम ने तो अपने वक्तव्य द्वारा स्वधर्म का पालन किया कि अपनी सेवा की जगह परिवार की सेवा को मुख्यता दी, परन्तु सीताजी की धर्मभावना यह थी कि इसका और अधिक विस्तार हो। जब परिवार का अधिकतर विस्तार होता है, तो व्यक्ति के जीवन में कृतज्ञता आती है और भगवद्-भक्ति का उदय होता है। भक्ति क्या है? जब जागतिक माता-पिता के प्रति हमारा इतना कर्तव्य है, तो जब हम कहते हैं – सीताजी जगन्माता हैं और भगवान राम जगत्पिता हैं, तो क्या उनके प्रति प्रेम-भक्ति और उनका ध्यान भी हमारा कर्तव्य नहीं है?

पहले तो हम अपने पिता के प्रति श्रद्धान्वित हों, फिर समाज में अन्य बड़े-बूढ़ों में भी पितृत्व दिखाई दे और अन्त में सर्वव्यापी जगत्पिता परमेश्वर की ओर भी दृष्टि का विस्तार होना चाहिए। सबके प्रति कृतज्ञता और अन्त में भगवान के प्रति दृष्टि चली जाती है तथा उनके प्रति कृतज्ञता का बोध होता है, तब वह भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से क्रमशः अपने कर्तव्य-कर्म का पालन करते हुए अपनी धर्म की भावना का विकास करे, विस्तार करे – यही धर्म का मूल उद्देश्य है।

मनु के जीवन में यही दिखाई देता है। राजा का यह कर्तव्य है कि प्रजा को वह सुखी करने की चेष्टा करे, प्रजा के कष्टों को दूर करने की चेष्टा करे। लेकिन उसके बाद भी उनके सामने यह प्रश्न था और वह बड़े महत्त्व का प्रश्न था और वह प्रश्न प्रत्येक युग में समान है। – क्या? यह कि जो राजा अथवा किसी अन्य पद पर आसीन होकर या किसी विशिष्ट अधिकार से युक्त होकर प्रजा की सेवा कर रहा है, तो क्या उसकी सेवा पूर्ण होगी? सेवक में भी तो कुछ विशिष्टता होनी चाहिए! जैसे यदि कोई व्यक्ति निर्णय करे कि हम प्यासों को पानी पिलायेंगे। प्यासे को पानी पिलाना बहुत बड़ा धर्म है। परन्तु यदि पानी पिलाने वाले को ही टी.बी हो, उसके शरीर में उस रोग के जीवाणु हो, तो स्वाभाविक है कि वह जिस जल को छूएगा तथा पिलायेगा, उसमें भी जीवाणु होंगे। सामनेवाला भी जब उस जल को पीयेगा, तो उसे उसके रोग को भी लेना होगा।

तात्पर्य यह कि यदि सेवा करनेवाला स्वयं ही उन दोषों से भरा हुआ हो, तो समाज में वह जिन लोगों की सेवा करने की बात कहता है, उनमें भी वह अपने ही जैसी वृत्तियाँ, अपने ही जैसे दोष पैठा देता है। इसलिए सेवक का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने जीवन में भी स्वयं को स्वस्थ रखने की चेष्टा करे। जब वह स्वयं स्वस्थ होगा, तो उसकी सेवा भी स्वस्थ होगी। इसीलिए हम दूसरों का हित करने चलें और लोकहित के नाम पर दूसरों में अपने दोषों को ही बाँटने लगें, तब तो वह सेवा कुसेवा के रूप में बदल जायेगी।

हनुमानजी जब समुद्र पार जा रहे थे, तो उनकी परीक्षा लेने के लिये सुरसा आई। हनुमानजी ऊपर से जा रहे थे। ऊपर से जाने का तात्पर्य है कि देहभावना से ऊपर उठे हुए है। परीक्षा बड़ी कड़ी थी। सुरसा ने आकर कहा – मैंने सुना है कि तुम तो बहुत बड़े विचारक हो, देह से ऊपर उठ गये हो। – तो? बोली – ''मुझे भूख लगी है और देवताओं ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। यह न समझना कि रावण की ओर से मैं लंका से आई हूँ। देवताओं से जब मैंने कहा कि मुझे भूख लगी है, मैं क्या करूँ? तो वे बोले – ये महात्यागी जा रहे हैं। इन्हीं को खा लो। और मैं चली आई। बड़ी भूखी हूँ। तुम्हें तो शरीर से कोई ममता है नहीं। अत: मैं तुम्हें खा लूँ, तो तुम्हें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।''

सुरसा नाम अहिन्ह कै माता ।
पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता ।।
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा ।। ५/२/२-३

सुरसा की बात तो बड़ी विलक्षण थी। परन्तु इसमें बड़ा मधुर संकेत है। बाधा केवल दुर्गुणों की ओर से नहीं आती, सद्गुणों की ओर से भी आती है। हनुमानजी को केवल रावण की ओर आनेवाली बाधाओं को ही नहीं पार करना है, जो इधर वालों की बाधा है, मैनाक पर्वत की जो बाधा है, वह कोई रावण के द्वारा भेजी हुई नहीं थी।

समुद्र ने मैनाक से कहा कि पवन देवता तुम्हारे मित्र हैं और हनुमानजी उनके पुत्र हैं। वे आ रहे हैं। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनका स्वागत करो। मैनाक पिता के मित्र होने नाते से सम्मान करने आए हैं। और सुरसा देवताओं की ओर से आई हुई है, उसका भी कहना है कि परोपकार क्यों नहीं करते? यदि तुम्हें शरीर से ममता नहीं है, तो मैं तुम्हें खा लूँ – इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है? यदि हनुमानजी दिखावे वाले साधक होते, तो शायद बड़े संकट में पड़ जाते।

व्यंग्य में कहते हैं – कुछ संन्यासी बैठे विचार कर रहे थे। ''आपने कैसे संन्यास लिया'' – एक-दूसरे से पूछ रहे थे, एक दूसरे से अनुभव ले रहे थे। एक संन्यासी पीछे बैठे थे। उनसे पूछा गया – आपने कैसे संन्यास लिया? तो वे बेचारे सच बोल गये। उन्होंने कहा – मैं तो संन्यासी नहीं बना, लोगों ने ही बना दिया। – कैसे? बोले – ''मैं तो कभी सत्संग में जाता नहीं था। गाँव में कोई सन्त पधारे थे। मैं उधर से निकल रहा था। महात्माजी ने पूछ दिया – ये कौन हैं? किसी ने कह दिया – महाराज, ये तो ऐसे हैं कि कोई साधु आ जाएँ, तो बिना सत्संग में गये रहते ही नहीं। उन सन्त ने पुकारा – आओ भगतजी! गाँववालों ने भले ही

व्यंग्य में कहा था, पर उन्होंने तो सही मान लिया। मैंने सोचा – चलो भी, बैठ जाने में क्या हर्ज है। उन लोगों ने कहा – महाराज, हम लोग तो कभी-कभार आते हैं, पर ये तो रोज आते हैं। सुनकर सन्त ने भी बड़ा आदर दिया कि तुम तो बहुत अच्छे हो, बड़े सत्संगी हो, नियम से सत्संग करते हो। मैं भी अब क्या करता, नित्य जाने लगा। इसी तरह कुछ दिन निरन्तर सत्संग करने के बाद लोग कहने लगे अब तो ये घर में टिकेंगे नहीं, जरूर घर छोड़ देंगे। मुझे लगा – अब चलो, छोड़ ही दो। तो मैं तो बना नहीं, लोगों ने ही बना दिया।'' व्यक्ति कभी कष्ट का मार्ग चुनता भी है, तो कही तो प्रदर्शन की वृत्ति से चुनता है कि लोग हमें अच्छा कहें, हमें महानतम मानकर हमारी पूजा करें। व्यक्ति उसके लिये कष्ट भी उठा लेता है।

पर हनुमानजी का सन्तुलन क्या है? वे देह से ऊपर उठे हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि परोपकारी कहलाने के लिये सुरसा से कहें कि हाँ, ठीक है, खा लो! हनुमानजी ने कहा – अभी नहीं। – तो? उन्होंने कहा – मेरे जीवन का एक लक्ष्य है और शरीर मेरा साध्य भले ही न हो, किन्तु पूरा साधन है। बस, यही एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। यह ठीक है कि साधक शरीर को स्वीकार नहीं करेगा, पर शरीर-भावना से ऊपर उठ जाने का अर्थ यह नहीं है कि वह भोजन नहीं करेगा, सोयेगा नहीं, शरीर का ध्यान नहीं रखेगा। वह उनका भी ध्यान रखेगा, पर इसलिए रखेगा कि शरीर एक साधन है, एक माध्यम है; इसके द्वारा हम साधन करेंगे।

तन बिनु बेद भजन नहिं बरना ।। ७/९६/५

उत्तरकाण्ड में इस बात की ओर संकेत किया गया। काग-भुशुण्डिजी से गरुड़जी ने पूछा – आपने शरीर को रखना क्यों स्वीकार किया? तो उन्होंने कहा – भजन करने के लिए भी तो शरीर की आवश्यकता है, इसलिये मैंने शरीर को स्वीकार किया, ताकि इसके द्वारा हम अधिक-से-अधिक भजन कर सकें, सेवा कर सकें; जिसका जो भी साधन हो, व्रत हो, वह उसे पूरा कर सके। शरीर से ऊपर जाने का अर्थ केवल इतना है कि हमारे जीवन में शरीर के प्रति और विषयों के प्रति आसक्ति न रह जाय। ममता न रह जाय। पर साधन के रूप में उसको सावधानी से रखें। सभी सन्तों ने इस बात को स्वीकार किया है कि शरीर एक साधन है, वस्त्र है, तो उसका सदुपयोग करके अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करें। हनुमानजी बोले – मैं इतने ऊपर उठकर आकाश मार्ग से जा रहा हूँ, तो क्या आपसे या देवताओं से प्रमाण-पत्र चाहता हूँ? देवता अर्थात् परोपकार। परोपकार सद्गुण हैं और हनुमानजी परोपकार के लिये – सुरसा को भोजन देने के लिये तैयार नहीं हुए। बोले – अभी नहीं। – तो कब? बोले – मैं श्रीराम का कार्य करके लौट आऊँ और सीताजी की खबर प्रभु को सुना दूँ, तब तुम मुझे खा लेना। हे माता! मैं सत्य कहता हूँ, अभी मुझे जाने दे –

रामकाज करि फिर मैं आवौं ।
सीता कै सुधि प्रभुहिं सुनावौं ।।
तब तव बदन पैठिहउँ आई ।
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ।। ५/१/४-५

सुरसा के रूप में मृत्यु मुख बाए खड़ी है और हनुमानजी को खाना चाहती है। हनुमानजी मृत्यु चाहते हैं या नहीं? हनुमानजी कहते हैं कि हमारे जीवन का जो लक्ष्य है – भगवान और भक्ति को पा लेना – उसके बाद शरीर रहे या न रहे, उसका कोई उद्देश्य नहीं, अर्थ नहीं, इसलिये बाद में मैं तुम्हारे मुँह में आकर पैठ जाऊँगा। पर सुरसा ने कहा – "हमें तो भूख अभी लग रही है और तुम जो निमत्रंण दे रहो हो, पता नहीं वह दिन कब आएगा? न जाने कब लौटोगे, लौट भी पाओगे या नहीं। तुमने तो बड़ी लम्बी योजना सुना दी। मैं तो अभी खाऊँगी।'' तब हनुमानजी संघर्ष के लिये तैयार हो गये। जब वह बोली – अभी खाऊँगी, तो हनुमानजी ने भी चुनौती दे दी – यदि तुम खा सकती हो, तो खाओ –

ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ।। ५/२/६

तब हनुमानजी उसे परास्त कर देते हैं। वह तो परीक्षा लेने आई थी कि इतना ऊपर उठा हुआ दिखाई दे रहा है, पर कहीं यह ऐसा साधक तो नहीं है कि जो केवल अपने प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिए इतना कष्ट उठा रहा हो! जब देख लिया कि हनुमानजी उसके समक्ष निरन्तर बड़े होते गए और एक क्षण आया जब सुरसा का सौ योजन मुख दिखाई पड़ा, तब हनुमानजी ने दो सौ योजन बनने की चेष्टा न करके – अत्यन्त लघु होकर सुरसा के मुँह में पैठ गये, फिर बाहर आ गये। सुरसा ढूढ़ने लगी – बन्दर अभी-अभी तो इतना बड़ा हुआ था? अब कहाँ चला गया? हनुमानजी उसे दिखाई ही नहीं दे रहे हैं। हनुमानजी उसके मुँह में घुस भी गये और निकल भी आए। तब सुरसा ने गद्गद हो कर कहा – अपने अन्दर महानतम होने की शक्ति होते हुए भी तुम स्वयं को शून्य बना सकते हो। तुम बल तथा बुद्धि के निधान हो, अत: तुम भगवान के सारे कार्य सम्पन्न कर सकोगे –

राम काजु सबु करिहहु
तुम्ह बल बुद्धि निधान ।। ५/२

हनुमानजी केवल 'लघु' बनना ही नहीं जानते, कभी-कभी वे 'अति लघु' भी बनते हैं। अंकों में लघु माने एक है और अति लघु माने – शून्य। अर्थात् जो दिखाई ही न दे। प्रदर्शन की वृत्ति का इतना अभाव! यही श्री हनुमानजी के व्यक्तित्व और चरित्र की महानतम विशेषता है।

❖ (क्रमश:) ❖

अप्पा भोला

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी कुछ संस्मरणों तथा तीन पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

– १ –

एक छोटा-सा गाँव गीर के जंगलों के बीच बसा हुआ था। गाँव का काठी-दरबार (राजा) अपने दरवाजे पर बैठा हुक्का पी रहा था। कमर में तलवार बाँधे एक वृद्ध काठी को जाते देखकर उसने पूछा – "ऐ अप्पा, कहाँ जा रहे हो?"

वृद्ध ने उत्तर दिया – "पेट ले जा रहा है भैया! एक मुट्ठी अन्न की तलाश में जा रहा हूँ।"

उसके इस उत्तर पर दरबार (राजा) के हृदय में दया उमड़ी। पूछा – "तुम क्या-क्या काम कर सकते हो?"

– "जो कहेंगे, वही करूँगा। वृद्ध जरूर हुआ हूँ, परन्तु मेहनत से पीछे नहीं हटता।"

– "ठीक है, ठीक है! तो यही रह जाओ न!"

– "जो हुकुम! मुझे क्या काम करना होगा?"

– "मेरी भैंसे चराना।"

अप्पा भोला ने सलाम किया और नौकरी में लग गया। विधि का विधान भला कौन खण्डित कर सकता है! न जाने किस कर्म के फल से उसे इस वृद्धावस्था में एक मुट्ठी अन्न के लिये दूसरे की दासता स्वीकार करनी पड़ी। जो भी हो, पेट तो चुप नहीं बैठेगा! धनी, निर्धन, दुखी, सुखी – सभी को इस पेट-देवता की उपासना के लिये तप करना ही पड़ता है। एक मारवाड़ी कवि ने ठीक ही कहा है, "हे प्रभो, तुमने आँख, कान, नाक, हाथ, पाँव आदि जो बनाये हैं, वे सब अच्छे हैं, परन्तु 'पेट दियो सो पाप दियो है'।" इसीलिये तो भोला इस वृद्धावस्था में भी नौकरी करने को बाध्य हुआ।

– २ –

भैंसे चराना कोई सहज कार्य नहीं है। एक बार भोर में चार बजे उन्हें चराने ले जाना पड़ता है। खूब घास खाकर पेट भर जाने पर ही तो वे सबेरे लौटकर दूध देंगी। फिर दूध दूहे जाने के बाद उन्हें पुन: चराने ले जाना पड़ता है और शाम हो जाने पर ही लौटना होता है। चाहे वर्षा का मौसम हो या जाड़े का, बारहों महीने यही दिनचर्या चलती रहती है।

पशुराज सिंह के आवास – उस भयंकर गिर के जंगल में जाना भोला का नित्य कर्म हो गया। वह बड़े भोर में ही चला जाता और सबेरे लौटकर दूध दूहता और दूध के साथ बाजरे की एक मोटी रोटी खाकर और दूसरी रोटी बाँधकर फिर उसी चरागाह में भैंसों को ले जाता। बाद में संध्या के समय लौटकर फिर दूध दूहता और दूध या मट्ठे के साथ उसी प्रकार एक रोटी खाकर गोशाले के एक किनारे खाट पर सो जाता।

अल्पभाषी भोला को लोग पसन्द नहीं करते थे। लोग समझ नहीं पाते कि क्यों वह सबके साथ मेलजोल नहीं करता, क्यों वह सबके साथ बातचीत में शामिल नहीं होता, क्यों वह अनमना होकर चुपचाप बैठा रहता है! अस्तु।

कहते हैं कि एक रबारी* की स्त्री का पति कामकाज के सिलसिले में दूर देश गया था। काफी काल तक उसका कोई समाचार नहीं मिला। मौका देखकर एक रबारी ने अफवाह फैला दी कि उसकी मृत्यु हो चुकी है और रबारी समाज की प्रथा के अनुसार उसकी स्त्री को समझा-बुझाकर अपनी पत्नी बनने के लिये राजी कर लिया। तीन-चार अच्छी भैंसों को लेकर वह राजा के पास इसके लिये अनुमति माँगने गया। दरबार भैंसों को पाकर बड़े खुश हुए और उसे पुनर्विवाह की अनुमति दे दी।

कुछ दिनों बाद उस स्त्री का पूर्वपति गाँव में लौट आया। सब सुनने के बाद वह इस 'अनुचित आदेश' को रद्द करने का अनुरोध लेकर राजा के पास गया। परन्तु राजा ने उसकी बातों पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। आखिरकार उसने राजा के विरुद्ध 'बहारबटा' (विद्रोह) की घोषणा कर दी और उसके गावों में लूटपाट करते हुए उसे हानि पहुँचाने लगा। उसके भय से लोग परेशान हो गये, यहाँ तक कि राजा भी एक स्थान पर दो दिन भी नहीं ठहरते थे। आखिरकार एक दिन उसने दरबार-गढ़ पर भी आक्रमण किया था, परन्तु कोई विशेष हानि नहीं पहुँचा सका। लेकिन इस घटना ने सबके मन में आतंक उत्पन्न कर दिया था।

– ३ –

इस घटना के बाद एक दिन – जब सभी लोग खाने को बैठे हुए थे – राजा ने सभी को सुनाते हुए कहा, "सभी लोग कटोरे भर-भरकर दूध निगलने में उस्ताद हैं, परन्तु उस डकैत का दमन करने का साहस दिखाई नहीं देता!"

बस, इतना सुनना था कि अप्पा भोला ने दूध के कटोरे

* रबारी जाति काफी कुछ अहीर या गोप श्रेणी में आता है। कहते हैं कि ये लोग श्रीकृष्ण के साथ मथुरा से इधर आये थे। उनकी बस्तियाँ द्वारका के आसपास के अंचल तथा गाँवों में ही अधिक हैं।

शिवनाथ शास्त्री

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

हरमोहन भट्टाचार्य तथा गोलकमणि देवी के पुत्र शिवनाथ भट्टाचार्य एक निर्धन परिवार तथा ग्रामीण परिवेश में जन्म लेने के बावजूद तत्कालीन भारत की राजधानी कलकत्ता में एक अज्ञात अवस्था से उठकर शीघ्र ही प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गये थे। हुगली जिले के चंगरीपोटा ग्राम में अपने मामा के घर में ३१ जनवरी, १८४७ को जन्मे शिवनाथ ने अपनी बाल्यावस्था में भी सबको शीघ्र आकर्षित कर लिया था। उनके मामा द्वारकानाथ विद्याभूषण एक शास्त्रज्ञ विद्वान् थे तथा 'सोमप्रकाश' पत्रिका के सम्पादक थे। उनके बड़े हो रहे भानजे पर उनका काफी प्रभाव पड़ा था। शिवनाथ १८६२ में दक्षिण कलकत्ता के भवानीपुर में आकर महेशचन्द्र चौधरी परिवार के साथ रहने लगे और इससे उनके जीवन का एक नया आयाम खुल गया।[१] प्रभुत्व-परायण पिता ने पहले उनका विवाह नवीनचन्द्र चक्रवर्ती की कन्या प्रसन्नमयी से और उसके बाद अभय चरण चक्रवर्ती की कन्या विराजमोहिनी से कर दिया। दूसरा विवाह सम्भवत: १८६५ में हुआ और इसने शिवनाथ की जीवनधारा काफी कुछ बदल दी। इस दूसरे विवाह को शिवनाथ ने बड़ा अनुचित माना, क्योंकि इसका कारण पिता का नवीनचन्द्र के परिवार से नफरत करना मात्र था। उनका विवेकी अन्त:करण उनको सदैव कुरेदता रहता और अन्त में उन्हें एकमात्र ईश्वर के शरणापन्न होना पड़ा। थियोडोर पार्कर की 'Ten Sermons and Prayers' पुस्तक ने उन्हें प्रार्थना करना सिखलाया। फिर भी उन्हें एक सहारे की आवश्यकता थी। उन्होंने धर्म और अन्तर्यामी प्रभु के आदर्शों का पालन करने का निश्चय किया।[२]

समाज के सभी वर्गों में, विशेषकर अँगरेजी शिक्षा प्राप्त युवकों में उस समय ब्राह्मसमाज का जोर अपने शीर्ष पर था। इसलिए यद्यपि शिवनाथ स्वाभाविक रूप से उसके कार्यक्रमों को ओर आकर्षित हुए, तथापि उनमें कट्टर ब्राह्मण-संस्कार भरे हुए थे। ऐसी स्थिति में वे कैसे ब्राह्म-प्रभाव में दीक्षित हुए, इस विषय में उनके जीवनीकारों और उन्होंने स्वयं भी दो कारणों की चर्चा की है – प्रथम, उनका स्वाभाविक धार्मिक रुझान और द्वितीय, उनका दुर्भाग्यपूर्ण दूसरा विवाह।[३] जो भी हो, सन् १८६८ तक वे केशवचन्द्र सेन द्वारा नवगठित भारतीय ब्राह्मसमाज से सम्बद्ध होकर रहने के बदले राममोहन राय द्वारा स्थापित आदिसमाज से सम्बद्ध रहे। पर उसके बाद ही उनके मित्र एवं सहपाठी विजयकृष्ण गोस्वामी ने उन पर केशव के साथ आने के लिए जोर डाला। इसलिए शिवनाथ धीरे-धीरे आदिसमाज से अपने को अलग करके अधिक प्रगतिशील दल के साथ आ मिले। १८६९ ई. के अगस्त में ब्राह्म-मन्दिर की स्थापना अवसर पर केशव ने शिवनाथ

१. शिवनाथ शास्त्री, आत्मचरित (बँगला) सिग्नेट प्रेस, कोलकाता, पृ. ५७; २. वही, पृ. ६८-९

३. शिवनाथ की जीवनी की लेखिका तथा पुत्री हेमलता देवी ने जोर देकर लिखा है, "मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि यदि उनका दूसरा विवाह न हुआ होता, तो वे कभी ब्राह्मसमाज के प्रभाव में न आते। अपने भयंकर हार्दिक पीड़ा से उन्मत्तप्राय हो उन्होंने भगवान की शरण ली थी।" 'शिवनाथ-जीवनी' (बँगला), पृ.१०४

पिछले पृष्ठ का शेषांश

को उलटकर रख दिया और अपनी तलवार लेकर उठ खड़ा हुआ। (उन दिनों सर्वदा अपने पास तलवार रखने की प्रथा थी।) और ५-७ लोगों को अपने साथ लेकर विद्रोही डकैत रबारी को ढूँढ़ने निकल पड़ा।

गाँव के बाहर निकलने के बाद वे लोग एक झाड़ी में छिपकर बैठे थे। गहरी रात के समय उन लोगों ने देखा कि वह बन्दूक लिये आ रहा है – उसके हाथ में आग लगी हुई रस्सी थी। (उन दिनों पलीतेवाली बन्दूक हुआ करती थी।) ठीक उसी समय एक व्यक्ति छींक आ गयी। बहारबटा वह सुनते ही समझ गया कि राजा के लोग उसके लिये जाल बिछाकर बैठे हुए हैं। भागने के लिये उसके मुड़ते ही भोला उसे ललकार कर उसके पीछे दौड़ पड़ा। एक पहाड़ी नदी आते ही रबारी नदी के भीतर कूद पड़ा, परन्तु उसके सँभलने के पूर्व ही भोला ने उसके ऊपर कूदकर उस पर आघात किया। घायल होकर उसने भोला के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। भोला उसके हाथ-पाँव बाँधकर राजा के पास ले गया – "यह लो बहारबेटा (विद्रोही डाकू)!" राजा ने जल्दी से एक कटोरा दूध लाकर भोला को पीने के लिये दिया और उसके बहादुरी पर प्रसन्न होकर दरबार ने इनाम के रूप में एक छोटा गाँव भी दे दिया। ❑❑❑

तथा बीस अन्य शिक्षित युवकों को ब्राह्म-धर्म में दीक्षित किया। इससे शिवनाथ के पिता इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने अपने पुत्र का ही परित्याग कर दिया! पर दूसरी ओर केशव के प्रबल प्रभाव ने इस कट्टर ब्राह्मण-युवक को ब्राह्म-आन्दोलन के एक समर्पित नेता में परिणत कर दिया। अपने परिवर्तन का समर्थन करते हुए शिवनाथ ने लिखा था –

"जब हम लोगों ने ब्राह्म-धर्म अपनाने के लिए हिन्दू-धर्म का त्याग किया, तब हमारा यह पक्का विश्वास था कि ब्राह्म-धर्म, न केवल आत्मा का, अपितु बुद्धि, हृदय तथा अन्तरात्मा का धर्म है। हम लोगों ने एक ऐसे धर्म का त्याग किया, जो न सिर्फ असंख्य देवी-देवताओं की पूजा करता है और अन्तरात्मा की उच्च भावनाओं की भूख मिटाने में असमर्थ है, बल्कि दुनिया भर के कुसंस्कारों, अन्धविश्वासों तथा सामाजिक बुराइयों की उर्वरा भमि है, जिसने देश के लोगों में स्वस्थ सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं के विकास को अवरुद्ध और कुण्ठित कर दिया है, (उसे हमने त्याग दिया), ताकि हम एक ऐसे धर्म को अपना सकें, जो न सिर्फ हमारी आध्यात्मिक भूख को सन्तुष्ट कर सके, अपितु साथ ही हमारी पवित्रतर सामाजिक तथा बौद्धिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सके।'[४]

सन् १८७२ में संस्कृत विषय में एम. ए. की परीक्षा में सफलता पाने पर शिवनाथ को शास्त्री की उपाधि प्रदान की गयी। दो वर्ष बाद उन्होंने दक्षिण उपनगरी शाला के प्रधानाध्यापक का कार्यभार सँभालने के उपरान्त भवानीपुर में अपना निवास-स्थान बनाया। अब भारतीय ब्राह्मसमाज की भवानीपुर-शाखा की बैठक उन्हीं के घर होने लगी और वे ब्राह्म-धर्म के मात्र एक समर्पित सदस्य ही नहीं रहे, वरन् अपने तार्किक दृष्टिकोण के बचाव के लिए किसी भी प्रकार का सामना करने के लिए एक आक्रामक नेता के रूप में उभरकर सामने आये। इसलिए लगभग १८७७ ई. में शिवनाथ, आनन्दमोहन बोस तथा कुछ अन्य युवा नेताओं के आपसी मतभेद गहरे हो उठे, जिसके फलस्वरूप कुछ वर्षों के बाद ब्राह्म-आन्दोलन में पुन: और सम्भवत: सबसे गहरा विभाजन हो गया। केशव के द्वारा एक प्रकार से दैवी शक्ति का स्वीकरण, स्त्री-पुरुषों का एक साथ प्रार्थना-सभाओं में एकत्र होना और 'भारत आश्रम मुकदमा' – इन सबने पहले से ही इस विभाजन की भूमिका बना दी थी। केशव के दल से अलग होनेवाला यह नया दल 'साधारण ब्राह्मसमाज' के नाम से जाना गया।

शिवनाथ की ब्राह्म-आन्दोलन के विकास की इन प्रक्रियाओं में क्या भूमिका थी, इसे ठीक-ठीक समझने के लिए उनके मानसिक गठन को जानना आवश्यक है। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है – "कुछ लोगों का स्वभाव ही आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल होता है – वे लोग स्वभाव से आध्यात्मिक होते हैं। मेरे स्वभाव में मेरा मनुष्य के प्रति जो प्रेम है, वह ईश्वर के प्रति मेरे प्रेम पर हावी हो जाता है। मैं आध्यात्मिकता की बजाय नैतिकता के प्रति अधिक संवेदनशील हूँ। देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र, विजयकृष्ण, या उमेशचन्द्र दत्त के जैसा स्वभाव लेकर मेरा जन्म नहीं हुआ है।"[५]

कोमल हृदयवाले, सत्यप्रिय तथा साहसी शिवनाथ अपनी विद्वत्ता, कर्तव्य-परायणता तथा देशभक्ति के कारण अपने अनुयायियों में अलग नजर आते थे। फिर भी उनकी स्वाभाविक प्रतिभा आध्यात्मिकता की बजाय साहित्यिक उपलब्धियों की ओर अधिक थी। बँगला साहित्य को उनकी देन का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि बिपिनचन्द्र पाल जैसे लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्रप्रेमी वक्ता ने उनके बारे में कहा था – "यदि उन्होंने (शिवनाथ) प्राणपण से समूची चेष्टा अपनी स्वाभाविक साहित्यिक क्षमता और कविता-सृजन की प्रतिभा के विकास में लगा दी होती, तो उन्होंने ब्राह्मनेता के रूप में देश की धार्मिक विचारधारा और कर्मक्षेत्र में जो स्थान आज प्राप्त किया, उससे कहीं ऊँचा स्थान बँगला साहित्य तथा सामाजिक जीवन के इतिहास में उनका होता। वैसे भी ब्राह्म-समाज में उन्होंने जो स्थान पाया, वह वास्तव में उनकी वक्तृता-शक्ति और साहित्यिक उपलब्धियों के कारण ही था, न कि किसी असाधारण आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप।'[६]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिवनाथ को लिखा था, "साहित्य में आपका अधिकार ईश्वर-प्रदत्त है।" तथापि शिवनाथ आसपास की खींचतान, विशेषकर स्वयं से जुड़े हुए ब्राह्मसमाजी लोगों के आपसी अन्दरूनी मतभेद के कारण अपनी साहित्यिक प्रतिभा का स्वाभाविक एवं बहुमुखी विकास नहीं कर सके। तो भी, कुल मिलाकर, बचपन से जीवन में ऊपर ऊठने की उनकी अदम्य इच्छा, सतत प्रयास, आशावादी दृष्टिकोण और नव-आलोक तथा प्रेरणा पाने की सतत खोज ने उनके जीवन को गढ़कर वैसा बना दिया था, जैसे कि वे थे।

पाश्चात्य धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं के बढ़ते दबाव ने तथा बाद में ब्राह्मसमाज और ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू-समाज की होनेवाली निन्दा ने हिन्दू-धर्म के समक्ष एक बड़ी चुनौती खड़ी कर दी। इस संकट की घड़ी में श्रीरामकृष्ण एक बहुत बड़े सहारे के रूप में उभरकर सामने आये। यद्यपि वे पण्डित या विद्वान् नहीं थे, पर 'जीवन-शास्त्र' के स्वामी थे, जिसके चुम्बकीय प्रभाव ने बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों तथा चिन्तकों को उनकी ओर आकृष्ट किया था। दिव्य जीवन किस प्रकार जिया जाता है, यह उन्होंने प्रत्यक्ष दिखा दिया। उनके लिए

४. The Brahmo Public Opinion, दिनांक २ मई, १८७८

५. 'डायरी' (बँगला) दिनांक २२.९.१८८८, जैसा कि बंगाब्द १३८० के पौष-माघ महीने के 'आलेख्य' के पृष्ठ २९३ में छपा था।

धर्म ही मनुष्य का सार था। धर्म से यदि उसकी सैद्धान्तिक जटिलताओं को निकाल दिया जाय, तो ऐसा धर्म उनकी दृष्टि में जीवन की समस्त मूलभूत समस्याओं को सुलझाने का सबसे सशक्त साधन था। हिन्दू-धर्म की शिराओं में उनके जीवन और उपदेशों ने एक नवीन शक्ति का संचार किया। फिर, उनकी भगवत्-उद्दीपना, उनका भगवान् तथा मनुष्य के प्रति ज्वलन्त विश्वास, नारीजाति के प्रति श्रद्धा, उनके चरित्र की निष्कलंक पवित्रता और समस्त धर्मों के प्रति उनका प्रेम और श्रद्धा, इस सबने उन्हें ब्राह्म-समाजी और हिन्दुओं में समान रूप से प्रिय बना दिया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से १८७५ ई. का साल बड़ा महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि इसी वर्ष के १५ मार्च को श्रीरामकृष्ण पहली बार केशवचन्द्र सेन से मिले। केशवचन्द्र विशाल हृदय और गहरी आध्यात्मिक पैठ वाले व्यक्ति थे। सन्त के व्यक्तित्व से वे तत्काल प्रभावित हो गये और उन्होंने २८ मार्च १८७५ के 'इण्डियन मिरर' में 'दक्षिणेश्वर के योगी' की अपनी खोज को घोषित किया। तब से स्वाभाविक रूप से ही केशव के प्रशंसक तथा ब्राह्मसमाज के लोग श्रीरामकृष्ण में रुचि लेने लगे। इसके कुछ पहले से ही शिवनाथ ने अपने एक पड़ोसी से, जो लन्दन मिशनरी सोसायटी की शाला में अध्यापक थे, सन्त के बारे में सुना था। इस व्यक्ति की ससुराल दक्षिणेश्वर ग्राम में थी, अत: उसका दक्षिणेश्वर आना-जाना लगा ही रहता था। वे शिवनाथ को श्रीरामकृष्ण के बारे में आकर्षक बातें सुनाते, 'उनकी उक्तियों तथा कार्यों' के विषय में बताते और प्राय: उनके ज्ञानागर्भित उपदेशों को उद्धृत करते। ये उपदेश सीधी-सादी तथा सहज ही समझ में आनेवाली भाषा में होने के साथ ही बड़े गम्भीर तथा सुन्दर भी थे। यद्यपि शिवनाथ अपनी स्वयं की जिम्मेदारी से अत्यन्त व्यस्त थे, तो भी श्रीरामकृष्ण के उपदेशों ने उनके हृदय को झकझोर दिया और वे सन्त की ओर खिंचाव का अनुभव करने लगे।[८] 'इंडियन मिरर' में प्रकाशित उपरोक्त संवाद ने शिवनाथ के दक्षिणेश्वर जाने के निर्णय को तीव्रता प्रदान कर दी।

सम्भवत: १८७५ ई. के अप्रैल[९] के किसी दिन, शिवनाथ मिशनरी स्कूल के उस शिक्षक के साथ दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण उस समय लगभग चालीस वर्ष के थे और शिवनाथ मात्र अट्ठाइस के। औपचारिक अभिवादन के बाद शिवनाथ और उनके साथी ने स्थान ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण शिवनाथ को देखकर प्रसन्न दीख पड़े। निस्सन्देह उन्होंने नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को तत्काल पहचान लिया था। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "लोगों को देखते ही मैं यह जान जाता हूँ कि कौन अच्छा है और कौन बुरा, कौन सुजन्मा है और कौन कुजन्मा, कौन ज्ञानी है और कौन भक्त, किसको (धर्मलाभ) होगा और किसको नहीं ...।"[१०] शिवनाथ को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि परमहंस (जैसा कि उस समय श्रीरामकृष्ण को कहने लगे थे), उनसे पूर्व-परिचित की भाँति व्यवहार कर रहे हैं। शिवनाथ ने विचार किया कि शायद उनके परिचित शिक्षक मित्र ने उनके विषय में पहले से परमहंस को बता रखा होगा, नहीं तो वे उनके साथ इतनी आत्मीयता के साथ कैसे मिलते?

कुछ ही क्षणों में शिवनाथ परमहंस से, विशेषकर उनकी असामान्य सरलता से काफी प्रभावित हो गये। श्रीरामकृष्ण ने भी शिवनाथ के सम्बन्ध में ऊँची धारणा बना ली थी, जैसा कि उनके बाद के कथनों में मिलता है; यथा – "अहा! शिवनाथ की कैसी भक्ति है! मानो रस में पड़ा हुआ रसगुल्ला है।"[११] "शिवनाथ को देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। मानो भक्तिरस में डूबा हुआ है।"[१२] "क्या शिवनाथ! तुम भी आये हो? देखो, तुम लोग भक्त हो, तुम लोगों को देखकर बड़ा आनन्द होता है। गँजेड़ी का स्वभाव होता है कि दूसरे गँजेड़ी को देखते ही वह खुश हो जाता है; कभी तो उसे गले भी लगा लेता है।"[१३]

"तुमसे मिलकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है; बीच-बीच में तुम यहाँ आओगे न?"[१४] – श्रीरामकृष्ण की बच्चों-जैसी इस सरल और निष्कपट बात को बार-बार सुनकर, शिवनाथ बड़े द्रवित हो गये। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें यदि पहली नहीं, तो तुरन्त बाद की भेटों में यह बताया था कि वे पहले काली-मन्दिर में पुजारी थे। विभिन्न सम्प्रदायों के बहुत-से साधु-संन्यासी मन्दिर में आया करते थे। वे लोग जिस-जिस साधना-पद्धति का निर्देश करते, उसका वे पूरी श्रद्धा के साथ पालन करते, जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए तो वे पागल जैसे ही हो गये थे। उन्हें एक तरह का रोग भी हो गया था, जिसके कारण भाव होने पर वे बेहोश हो जाते।[१५]

---

६. 'साहित्य साधकमाला' (बँगला) में उद्धरित (प्रकाशक बंगीय साहित्य परिषद), खण्ड ७, पृ. ४२; **७.** 'बांग्लार लेखक' (बँगला), प्रमथनाथ बीशी द्वारा उद्धृत, सं. १३५७ बंगाब्द, पृ. २

८. शिवनाथ शास्त्री : 'Men I have Seen', कलकत्ता, पृ. ५९

९. शिवनाथ दक्षिणेश्वर सर्वप्रथम इंडियन मिरर में २८ मार्च १८७५ को श्रीरामकृष्ण के बारे में प्रकाशित हुए लेख के शीघ्र बाद ही गये थे। लगता है कि यह यात्रा अप्रैल १८७५ के बाद की नहीं हो सकती।

१०. स्वामी सारदानन्द : श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, नागपुर, भाग १, सं. २००८, पृ. ३८६; **११.** 'म' : श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, सं. १९९९, पृ. ११५; **१२.** वही, पृ. ३३६; **१३.** वही, भाग १, पृ. ९७; **१४.** 'Men I have Seen', पृ. ६०

१५. 'आत्मचरित', पृ. १२८। स्पष्ट ही शिवनाथ को श्रीरामकृष्ण के कथनों से कुछ गलतफहमी हो गयी थी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि श्रीरामकृष्ण ने एक बार अपने भानजे हृदय को धनी दर्शनार्थियों के

यद्यपि श्रीरामकृष्ण का मन, शिवनाथ के समान पाश्चात्य प्रणाली में शिक्षित और दीक्षित नहीं हुआ था, तथापि शिवनाथ ने श्रीरामकृष्ण में एक प्रकाण्ड दार्शनिक, भक्त और सर्वोपरि एक सत्पुरुष को देखा। इस उच्चशिक्षा प्राप्त आगन्तुक को सबसे आश्चर्य इस बात का हुआ कि श्रीरामकृष्ण के प्रेरक उपदेशों में न केवल स्पष्टता थी, वरन् उनमें आध्यात्मिकता की गहराई भी थी। संक्षेप में कहें, तो वे श्रीरामकृष्ण के मोहक व्यक्तित्व से मुग्ध हो गये। बाद में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि श्रीरामकृष्ण 'निश्चय ही मेरे जीवन में आये सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में से एक' थे। उन्होंने आगे लिखा था – "वास्तव में उनके साथ भेंट करने के बाद जो धारणा बनी, वह यह थी कि शायद ही कभी मैं अन्य किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति से मिला हूँ, जिसमें आध्यात्मिक जीवन के लिए इतनी तीव्र तड़प और लगन हो और जो धर्मसाधना के लिए इतनी अधिक कठोरता और कष्टों से गुजरा हो। दूसरी बात, मुझे यह विश्वास हो गया कि वे अब सिर्फ साधक या भक्तिपथ के पथिक ही नहीं, अपितु सिद्ध पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है।'[१६] अन्यत्र उन्होंने लिखा था – "इन कठोर साधनाओं का एक परिणाम यह हुआ कि श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य हमेशा के लिए बिगड़ गया और वे अपनी इन अद्भुत धार्मिक साधनाओं में डूब कई आध्यात्मिक सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर अपूर्व मातृभाव की धारणा को लेकर ऊपर आये। उनमें एक और विशिष्टता थी। उनका महान् आध्यात्मिक सत्यों को और विशेषकर दिव्य मातृभाव को समझाने का तरीका बड़ा अलौकिक था। प्राय: वे रोजमर्रे के जीवन की अति सामान्य और सुपरिचित घटनाओं को दृष्टान्त के रूप में बताकर इन सत्यों को समझाते। उनके बताये अधिकांश दृष्टान्त इतने सटीक और सरल होते कि लोग प्राय: अचरज में भरे उनसे गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों की जानकारी पा जाते।'[१७]

दुर्भाग्यवश इस महत्त्वपूर्ण प्रथम भेंट के विषय में इसके अलावा और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, तथापि परवर्ती घटनाओं से सहज ही इसके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि शिवनाथ ने साम्प्रदायिक और सामाजिक मान्यताओं के कारण अलग रहने की बहुत कोशिश की, पर श्रीरामकृष्ण का निष्ठावान साधकों के प्रति जो तीव्र खिंचाव था, उससे वे अपने को पूरी तौर से बचा नहीं सके। वे कई बार श्रीरामकृष्ण के पास आये, तो भी अपनी ओर से पूरी चेष्टा करके उन्होंने अपने को उनके निकटवाली अन्तरंगता से दूर रखा। यद्यपि श्रीरामकृष्ण की कभी भूल न करनेवाली अन्तर्दृष्टि ने शिवनाथ की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को प्रकट किया था, फिर भी वे श्रीरामकृष्ण के प्रभाव से जितना लाभ उठा सकते थे, उठा नहीं सके। तथापि श्रीरामकृष्ण का उनके प्रति जो प्रेम था, उसकी कोई सीमा न थी। स्वामी सारदानन्दजी ने इसे सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया है – "भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के बहुत से लोगों के सत्यानुराग, त्यागशीलता और धर्मपिपासा आदि सद्गुणों का परिचय पाकर श्रीरामकृष्ण उन्हें अपने अपने जीवनादर्श के अनुसार धर्मपथ पर अग्रसर कराने के लिए सचेष्ट हुए थे। ... उन्हें इस बात को समझने में समय नहीं लगा कि ये लोग पाश्चात्य शिक्षा एवं पाश्चात्य भाव-ग्रहण के कारण जातीय धर्मादर्श से विच्युत होकर बहुत दूर चले जा रहे हैं और बहुधा समाज-सुधार को ही धर्मानुष्ठान का एकमात्र कार्य समझ बैठे हैं। इस कारण उन्होंने इन लोगों के भीतर यथार्थ साधनानुराग प्रबुद्ध कर दिया था और समाज उनके साथ इस मार्ग पर अग्रसर हो या न हो, उन लोगों को इस धारणा में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था कि ईश्वर-की प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।"[१८]

स्वाभाविक ही तब कुछ समय तक श्रीरामकृष्ण के प्रति शिवनाथ के दृष्टिकोण में विरोध दिखायी पड़ता है। और जब विजयकृष्ण गोस्वामी ब्राह्मसमाज छोड़कर पूर्णरूपेण साधना में लग गये, तब ऐसा सोचकर कि पूरा नहीं, तो कुछ तो जरूर ही श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का विजयकृष्ण के जीवन-परिवर्तन में प्रभाव पड़ा है, शिवनाथ ने श्रीरामकृष्ण के पास जाना एकदम बन्द कर दिया। वास्तव में, साधारण ब्राह्मसमाज के नेता शिवनाथ ने खुले आम स्वीकार किया था – "यदि मैं वहाँ (श्रीरामकृष्ण के पास) जाता रहूँगा, तो ब्राह्मसमाज के दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसा ही करेंगे और परिणाम यह होगा कि समाज टूट जायगा।" यद्यपि उन्होंने अपने को सन्त के प्रभाव से मुक्त रखने का बहुत प्रयत्न किया, तो भी कभी-कभी अपने भीतर उठनेवाले पश्चात्ताप और आत्मग्लानि को वे नहीं रोक पाते थे और जीवन के अन्तिम दिनों में यह और अधिक प्रबल हो उठा था। इसलिये उनको यह स्वीकार करते देख आश्चर्य नहीं होता, "साधारण ब्राह्मसमाज सचमुच

सामने उनकी झूठी प्रशंसा करने से रोकने के लिए इस 'उन्माद' पर बड़ा जोर दिया था। (देखें Life of Ramakrishna अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा, १९६४, पृ. २८२)। बाद में शिवनाथ की भ्रान्ति को दूर करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था : "अच्छा शिवनाथ, सुनते हैं कि तुम इसको रोग कहा करते हो? और कहते हो कि मैं बेहोश हो जाता हूँ? तुम दिन-रात ईंट, काठ, मिट्टी, रुपये-पैसे आदि जड़ वस्तुओं में चित्त संलग्न रखकर ठीक बने रहे और जिनकी चेतनता से यह संसार चैतन्यमय है, उनका दिन-रात चिन्तन करके मैं अचेत हो गया! तुम्हारी यह कैसी बुद्धि है?" (श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, सं. २००८, भाग २, पृ. ६०१)

१६. 'Men I have Seen', पृ. ६६; **१७.** शिवनाथ शास्त्री : 'History of The Brahmo Samaj', खण्ड २, पृ. ७-८

१८. 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग', सं. २००८, भाग २, पृ. ७६२

(शेष पृष्ठ २२ पर)

स्वामी विवेकानन्द की पुण्य स्मृति में

बाल्मीकि प्रसाद सिंह (राज्यपाल, सिक्किम)

(लेखक सम्प्रति सिक्किम के राज्यपाल हैं और देश के जाने-माने विद्वान्, विचारक तथा लोकसेवक हैं। श्री बी. पी. सिंह की नवीनतम पुस्तकें – 'बहुधा' और 'पोस्ट-९/११ वर्ल्ड', आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से २०१० में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत लेख उन्होंने स्वामी विवेकानन्द सार्ध शताब्दी अर्थात् १५० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर लिखा है, जो आगामी २०१४ तक मनायी जा रही है। – सं.)

महान् व्यक्ति यदा-कदा ही जन्म लेते हैं। पर हमारे देश के लिए यह सौभाग्य की बात है कि १९ वीं सदी के एक ही दशक में भारत की धरती पर तीन महान् व्यक्ति अवतरित हुये – १२ जनवरी १८६३ को स्वामी विवेकानन्द, ४ मई १८६१ को रवीन्द्रनाथ टैगोर और २ अक्तूबर १८६९ को महात्मा गाँधी। भारतीय इतिहास का यह अद्‌भुत स्वर्णिम संयोग था। ये तीनों महापुरुष आधुनिक भारत में अपने-अपने क्षेत्र के उन्नायक बने – स्वामी विवेकानन्द धर्म तथा अध्यात्म के क्षेत्र में, गुरुदेव टैगोर साहित्य में और गाँधीजी स्वाधीनता संग्राम तथा सार्वजनिक जीवन में। तीनों में स्वामी विवेकानन्द प्रथम नायक थे, जिन्होंने अपने समय तथा परवर्ती काल में भारतीय चेतना को सर्वाधिक प्रभावित किया।

स्वामी विवेकानन्द का मूल नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका जन्म १२ जनवरी १८६३ को कोलकाता के एक हिन्दू परिवार में हुआ। वे सिर्फ ३९ वर्ष की छोटी-सी उम्र लेकर आये थे, पर इसी में उन्होंने हिन्दू धर्म की सहिष्णुता को नये ढंग से परिभाषित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने देश-विदेश में वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के लिए और भारत के कोने-कोने में उत्कृष्ट शिक्षा तथा चिकित्सा की सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिये रामकृष्ण मिशन जैसी आदर्श संस्था की स्थापना की।

स्वामी विवेकानन्द के योगदान को परस्पर जुड़े तीन आयामों में देखा जाना चाहिए। पहला, उन्होंने धर्म को केन्द्रीय स्थान पर स्थापित किया और उसे सर्वथा नयी परिभाषा दी। दूसरा, उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी सद्‌भाव पर विशेष बल दिया और तीसरा, उनका शिक्षण आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विचारक फ्रेडरिक नीत्शे (१८४४-१९००) स्वामी विवेकानन्द के ही समकालीन थे। उन्होंने घोषणा की थी कि ईश्वर मर चुका है। परवर्ती विद्वानों तथा लेखकों ने इसी को दुहराते हुए कहा कि अब लोगों को ईश्वर में पहले जैसी दिलचस्पी नहीं रह गयी है। यह कहा गया कि मानवीय प्रवृत्तियों को संचालित करने में धर्म से अधिक विज्ञान और बौद्धिकता निर्णायक भूमिका निभाती है। यह स्वामी विवेकानन्द को स्वीकार नहीं था। इसीलिए उन्होंने धर्म को बिल्कुल नया स्वरूप दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने यह शिक्षा दी कि ईश्वर की सेवा का वास्तविक अर्थ निर्धनों-पीड़ितों की सेवा है। उन्होंने साधुओं-पण्डितों, मन्दिरों-मस्जिदों और गिरजाघरों के इस पारम्परिक विचार को पूरी तरह नकार दिया कि धार्मिक जीवन का उद्देश्य केवल ईश्वर या मोक्ष को पाना है। इसके बजाय उन्होंने निर्धन और दीन-हीन लोगों की सेवा पर ज्यादा जोर दिया। उन्होंने इस प्रत्यक्ष सिद्ध सत्य को एक नया शब्द दिया 'दरिद्र-नारायण' यानी ईश्वर का निवास गरीबों और पीड़ितों में होता है। इस 'दरिद्र-नारायण' शब्द ने सभी आस्थावान स्त्री-पुरुषों में एक कर्तव्य की भावना जगायी कि ईश्वर की सेवा का अर्थ निर्धन-असहाय लोगों की सेवा है।

गौतम बुद्ध की तरह स्वामी विवेकानन्द ने भी मानव के आचरण में बौद्धिकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया। उनका मत था कि हम जो भी काम करें, वह युक्ति-संगत हो, तर्क-प्रमाणित हो। मनुष्य को एक ऐसे धर्म के साथ रहना सीखना होगा, जो बौद्धिक चेतना और तार्किकता की आत्मा को प्रश्रय दे।

धर्म का पथ ऐसे टिकाऊ विश्वास का पथ होना चाहिए, जो प्रत्येक व्यक्ति के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास पर जोर दे, चाहे वह किसी भी जाति-प्रजाति-समुदाय या सम्प्रदाय का क्यों न हो। कोई भी धर्म – जो एक आदमी को दूसरे से अलग करता हो, या विशेषाधिकार, या शोषण, या युद्ध का समर्थन करता हो, प्रशंसनीय नहीं हो सकता।

अन्य किसी भी सन्त-महात्मा की तुलना में स्वामी विवेकानन्द ने इस बात पर ज्यादा जोर दिया कि प्रत्येक धर्म गरीबों की सेवा करे और समाज के पिछड़े लोगों की अज्ञानता, गरीबी और रोगों से मुक्ति का उपाय करे। ऐसा करते समय पुरुष और स्त्री में, एक मत और दूसरे मत में, एक पेशे और दूसरे पेशे में वह कोई भेदभाव न करें। दरअसल, उन्होंने गरीबों की सेवा को पूजा का सम्मान दिया। उस उच्च स्तर पर पहुँचने के बाद विभिन्न मतों के बीच आपसी सद्‌भाव पहली शर्त हो जाया करती है। इस प्रकार का वातावण मानव-मानव के बीच सामंजस्य की भावना की अपेक्षा रखता है। शत्रुता या वैमनस्य के शमन के लिये हमें घृणा का परित्याग करना होगा और सभी के लिये प्रेम और सहानुभूति जगानी होगी।

स्वामीजी की प्रार्थना थी कि मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों कष्ट झेलूँ, ताकि विभिन्न जातियों तथा राष्ट्रों में विद्यमान अपने दरिद्र-नारायण की सेवा और पूजा कर सकूँ।

* * *

आज किसी भी व्यक्ति का सबसे अलग रहकर – एक टापू की तरह जीना सम्भव नहीं रह गया है। विभिन्न मतों और विभिन्न पन्थों के लोग साथ-साथ एक ही गाँव या शहर में रह रहे हैं। ऐसे में जरूरी है कि लोग एक-दूसरे को समझें; उनकी जरूरतों तथा आकांक्षाओं को तरजीह दें और उनके धार्मिक विश्वासों तथा पद्धतियों को सम्मान दें।

स्वामीजी के आचार-विचार पर यदि हम गौर करें, तो हम पायेंगे कि वे अपने समय से बहुत आगे थे। उनका विचार था कि विभिन्न धर्मों-सम्प्रदायों के बीच संवाद हो। वे विभिन्न मतों-पन्थों की अनेकरूपता को उचित मानते थे। हम सोच सकते हैं कि आज तमाम विवादों से ग्रस्त और त्रस्त विश्व के लिए स्वामीजी के विचार कितने मूल्यवान हैं!

स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट किया कि वेदान्त-दर्शन न तो हिन्दू दर्शन है, न बौद्ध, न ईसाई, न मुस्लिम। यह इन सभी धर्मों का सार-तत्त्व है। ११ सितम्बर, १८९३ को शिकागो के धर्म-सम्मेलन में दिये गये अपने ऐतिहासिक भाषण में स्वामीजी ने स्पष्ट किया था कि ईसाइयों को न तो हिन्दू या बौद्ध होने की जरूरत है, न ही हिन्दुओं या बौद्धों को ईसाई बनने की जरूरत है। लेकिन प्रत्येक को दूसरों की आत्मा से जुड़ना है और अपनी व्यक्तिगत विशेषता को बरकरार रखते हुए अपनी विकास-विधि से आगे बढ़ना है।

स्वामीजी इसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुत आवश्यक मानते थे। भारतीय जीवन-दर्शन यही है कि व्यक्ति अपने परिवेश से सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को प्राप्त करे और उनके साथ पूरी निष्ठा से रहे। हिन्दू समाज की धार्मिक अवधारणा को श्रीरामकृष्ण परमहंस ने बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है – "जतो मत, ततो पथ" यानी जितने विचार, उतने मार्ग। स्वामीजी मानवीय आचार-विचार में अनेकता को विशेष महत्त्व देते थे और उनमें एकरूपता लाने की कोशिश के घोर विरोधी थे। शिकागो के अपने पहले भाषण में उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त की ये पंक्तियाँ उद्धृत की थीं –

रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजु-कुटिल-नाना-पथजुषाम्।
नृणाम् एको गम्यस् त्वमसि पयसाम् अर्णव इव ।।

– जैसे सभी नदियाँ टेढ़े या सीधे रास्ते पकड़कर समुद्र तक पहुँचती हैं, वैसे ही रुचियों की भिन्नता के कारण लोग सरल या कठिन रास्ता भले ही चुन लें, पर सबका गन्तव्य एक है।

* * *

स्वामीजी विभिन्न धार्मिक मतवादों में सामंजस्य स्थापित करने के पक्षधर थे और सभी को किसी एक धर्म का अनुयायी बनाने के विरुद्ध थे। स्वामीजी कहा करते थे कि यदि सभी मानव एक ही धर्म को मानने लगें, एक ही पूजा-पद्धति को अपना लें और एक ही नैतिक विधि का पालन करने लगें, तो यह विश्व के लिये सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात होगी, क्योंकि यह सभी धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्वाधीनता और विकास के लिए प्राणघातक हो जाएगा।

स्वामीजी के विचार के दो ऐसे पहलू हैं, जो आज के भारत और विश्व के लिए बहुत उपयोगी हैं।

स्वामी विवेकानन्द भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का सूत्रपात करने वाले महानायकों में से थे। उनके जीवन-काल में या उनके बाद स्वाधीनता संग्राम में भाग लेनेवाले तमाम भारतीयों ने उनसे प्रेरणा ली थी। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों ने लोगों को न केवल आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग दिखाया, बल्कि उन्हें सामाजिक जीवन व्यतीत करने का तरीका भी सिखाया। उन्होंने गरीबों की सेवा पर जो बहुत जोर दिया, वह हमारे लिये न केवल सामाजिक दायित्व है, अपितु मुक्ति का मार्ग भी है।

लोकसेवकों को प्रलोभनों से दूर रखने में हमारी असमर्थता ने भारतीय लोकतंत्र के सामने एक बड़ी चुनौती खड़ी कर दी है। स्वामीजी द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन अपने स्थापना-काल से ही अपने सदस्यों की परवरिश इस तरह करता रहा है कि वे कर्तव्य-परायणता और सेवा-भावना की मिसाल बने हुए हैं। यह कैसे सम्भव हुआ? यह मिशन अपने प्रत्येक सदस्य के भोजन, वस्त्र, आवास तथा चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है। सभी के लिये निर्धारित भोजन, वस्त्र और चिकित्सा-सुविधाओं में काफी समानता है। यह अपने कर्मियों को प्रशिक्षण तथा आदर्शवाद के द्वारा प्रेरित (मोटिवेट) करता है। दूसरी ओर राजनीतिक दल हैं, जिनके पास अपने सक्रिय सदस्यों के समुचित भरण-पोषण की कोई व्यवस्था नहीं है। समय आ गया है कि राजनीतिक पार्टियाँ इस दिशा में रामकृष्ण मिशन से सबक लें।

आज हम ऐसी दुनिया में जी रहे हैं, जहाँ हिंसा है, घृणा है, आतंक है और आत्मघाती दस्ते हैं। आतंकवादी अपने हिंसक कारनामों को नीतिसंगत ठहराने के लिए धार्मिक नारों का प्रयोग करते हैं। दुनिया में बहुत-से लोग इस बात में विश्वास करते हैं कि मेरा भगवान तुम्हारे भगवान से बड़ा है। यदि कोई व्यक्ति गरीबों की सेवा में आस्था रखता है, तो वह आतंकवादी कैसे हो सकता है? धार्मिक व्यक्ति कैसे किसी आत्मघाती दस्ते में शामिल हो सकता है?

स्वामीजी के पास ऐसे तमाम सवालों के जवाब हैं और विभिन्न धर्मों और मतों के स्वतंत्र अस्तित्व के लिये समुचित तर्क भी है। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व-धर्म-सम्मेलन में बिल्कुल सही कहा था, "यदि कोई सोचता है कि उसी का

धर्म पले-बढ़े और दूसरों के धर्म नष्ट हो जायँ, तो ऐसे लोगों की दुर्बुद्धि पर मुझे दया आती है। मैं उन्हें बता देना चाहता हूँ कि बहुत जल्दी, तमाम बाधाओं के बावजूद, प्रत्येक धर्म के बैनर पर लिखा जाएगा – 'संघर्ष नहीं, सहयोग; विनाश नहीं, सृजन; वैमनस्य नहीं, सौहार्द और शान्ति।

* * *

स्वामी विवेकानन्द देखने में, विचारों में और कार्यों में – हर दृष्टि से सुन्दर थे। बिरले ही किसी एक व्यक्ति में सौन्दर्य का ऐसा सम्मिलन देखने को मिलता है। उनका राई-जैसा छोटा-सा जीवन और उनका पहाड़-जैसा विराट् कार्य – मानव सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास में प्रतिभा तथा कर्मठता का एक अद्भुत उदाहरण है।

आइये, हम स्वामीजी की १५०वीं जयन्ती मनाते हुए भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र और दुनिया को रहने योग्य बेहतर जगह बनाने हेतु संकल्प-बद्ध होकर आगे बढ़ें।

❑❑❑

पृष्ठ १९ का शेषांश

ही हमारे देशवासियों में आध्यात्मिक विचारों को ठीक से नहीं पनपा सका।''[१९] और यह कि ''मैं उस गम्भीर परिणाम को समझने में असफल रहा, जो साधारण ब्राह्मसमाज को ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के विरोध में खड़ा करने से आनेवाला था। मैं अपने को उतनी आध्यात्मिक साधनाओं में लगाने में असफल रहा हूँ, जितना कि मुझे लगाना चाहिए था।''[२०]

यद्यपि शिवनाथ इस प्रकार श्रीरामकृष्ण को उतना नहीं स्वीकार कर पाये और उनके उपदेशों को उतना नहीं अपना सके, जितना कि दूसरी परिस्थितियों में कर सकते थे, फिर भी श्रीरामकृष्ण का उदारतापूर्ण प्रभाव उन पर कई तरह से स्पष्ट था। चूँकि वह अमिट था, इसलिए उसका प्रभाव उनके हृदय पर मन्थर गति और मौन रूप से किन्तु निश्चित रूप से हो रहा था। जैसाकि उन्होंने स्वयं व्यक्त किया था – ''यद्यपि उनसे मेरा परिचय संक्षिप्त था, फिर भी बहुत से आध्यात्मिक विचारों को मुझमें सबल बनाने में वह सफल रहा था। उन्होंने मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।''[२१] शिवनाथ के जीवनीकार लिखते हैं – ''यह सच है कि श्रीरामकृष्ण के प्रति जो गहरा लगाव शिवनाथ के भीतर जगा था, उसका शिवनाथ पर स्थायी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने धर्म की सार्वभौमिकता का भाव विशेष रूप से श्रीरामकृष्ण से पाया था।''[२२] इस सन्दर्भ में शिवनाथ के 'आत्मचरित' में हमें इससे भी उल्लेखनीय वक्तव्य मिलता है – ''श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क से इस सत्य को जान पाया कि धर्म एक ही है, उसकी अभिव्यक्तियाँ विभिन्न हैं। इस प्रकार के औदार्यपूर्ण और धर्म के व्यापक विचारों से उनके उपदेश ओतप्रोत रहते थे।... श्रीरामकृष्ण की संगति में मैंने धर्म की सार्वभौमिकता को पूरे विश्वास के साथ अनुभव किया था।'[२३] इसी प्रकार ईश्वर के प्रति मातृभाव ने भी, जो श्रीरामकृष्ण को इतना प्रिय था, शिवनाथ को ब्राह्मसमाज के अन्य नेताओं की अपेक्षा कोई कम प्रभावित नहीं किया था। बहुत-से लोगों को उनकी प्रामाणिक जीवनी से यह जानकर आश्चर्य होगा कि शिवनाथ प्रतिदिन सुबह संस्कृत में स्वरचित गुरुस्तुति का पाठ करते थे, जिसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं – ''रामकृष्ण जिन्होंने शक्ति की उपासना से पूर्णता हासिल की थी और जो दिव्य मातृभाव से भावित ... थे, ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ सब मेरे गुरु हैं। उनके बारे में विचार कर, उनका स्मरण कर मुझे अपनी धार्मिक साधनाओं में बड़ा बल मिलता है।''[२४]

शिवनाथ की धारणा थी कि साधारण ब्राह्मसमाज द्वारा प्रस्तुत किया गया ब्राह्म-धर्म ईश्वर-प्रदत्त धार्मिक व्यवस्था[२५] थी और वही युग का धर्म था।[२६] फिर उन्होंने ब्राह्म-आन्दोलन के नेता-पद को दैवी आदेश मानकर स्वीकार किया था। पर परवर्ती वर्षों में उन्होंने अपनी बहुत-सी और गहरी कमजोरियों पर पश्चात्ताप भी किया था। १९०३ में उन्होंने स्वीकार किया था कि ब्राह्मसमाज का आध्यात्मिक स्तर निम्न था और उनकी स्वयं की स्थिति और भी खराब थी।[२७] अपने ६८ वें साल के अन्त में उन्होंने स्वीकार किया था कि आध्यात्मिक जीवन की गहराई की खोज में उन्होंने लापरवाही बरती थी और स्वयं की आध्यात्मिक प्रगति की कीमत पर उन्होंने अपने को ब्राह्म-धर्म के प्रचार के लिए खपा दिया। इससे उनका ईश्वर के प्रति विश्वास और समर्पण कम हो गया।[२८] श्रीरामकृष्ण या शिवनाथ के जीवन को गम्भीरता से समझने की चेष्टा करनेवाला व्यक्ति शिवनाथ के जीवन पर श्रीरामकृष्ण के गहरे और दीर्घ प्रभाव को कैसे नजर-अन्दाज कर सकता है, जो धर्म की व्यवस्था 'होने और बनने' (being and becoming) के रूप में करते थे? निश्चित ही श्रीरामकृष्ण और उनके उपदेश शिवनाथ को ३० अगस्त, १९१९ को उनकी मृत्युपर्यन्त प्रेरणा देते रहे। ❑❑❑

१९. डायरी, १२.९.१८८८, 'आलेख्य', वर्ष ४, अंक ४, पृ. २९२; **२०.** वही, ९.१.१९१५, वही, खण्ड ४, अंक ३, पृ. १७९; **२१.** Men I have Seen, पृ. ७७; **२२.** 'शिवनाथ-जीवनी', पृ. १४६; **२३.** 'आत्मचरित' (बँगला), पृ. १२८

२४. रामकृष्णः शक्तिसिद्धो मातृभाव-समन्वितः।.. एते मे गुरवः सर्वे योषितः पुरुषाश्च ये। स्मृत्वैतान्महतीं शक्तिं लभेऽहं धर्मसाधने।। 'शिवनाथ -जीवनी', पृ. २८९; **२५.** प्रफुल्ल कुमार दास : 'शिवनाथ शास्त्रीर अप्रकाशित वक्तृता ओ स्मारक-लिपि' (बँगला), कलकत्ता, १९७५, पृ. ८५: **२६.** वही, पृ. ७३; **२७.** वही, पृ. ३; **२८.** वही, पृ. ५-६

कर्मयोग – एक चिन्तन (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

भगवान की असीम अनुकम्पा से यह सुअवसर आया है कि हम भगवान श्रीकृष्ण की वाणी और उनके द्वारा कर्म के संबंध में कही गई बातों पर विचार करेंगे। आप सब लोग गीता के पाठक और श्रोता हैं। आप सभी जानते हैं कि महाभारत के मध्य में भीष्म पर्व में गीता है, यह युद्ध के बीच में कही गयी है। गीता भगवान ने क्यों कहीं? –

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं।
व्यासेन ग्रथितां पुराण-मुनिना मध्येमहाभारतम्॥

पृथा या कुंती का पुत्र होने के कारण अर्जुन का नाम पार्थ हुआ। पार्थ को प्रतिबोधित करने के लिये भगवान ने स्वयं गीता कही। जब तक हम गीता की इस भूमिका को नहीं समझ लेते, तब तक गीता के उपदेशों को समझकर जीवन में उसका आचरण करना लगभग असंभव-सा है। हमारे समाज में एक ऐसी परम्परा हो गयी है, कि केवल पारायण करने से सब कुछ हो जाता है। निश्चय ही कुछ-न-कुछ उसका फल होता होगा, वह सब व्यर्थ नहीं जाता है। किन्तु पारायण ही सब कुछ नहीं है। आपको बहुत से लोग मिलेंगे, जिन्होंने पूरी गीता कंठस्थ कर ली है। वे गीता के ७०० श्लोकों का प्रतिदिन पारायण भी करते हैं। पर ऐसे कुछ लोगों के जीवन को आप भी जानते होंगे और मैं भी जानता हूँ कि उनके जीवन से गीता या गीता के उपदेशों का कोई भी संबंध नहीं है। आज के इस यांत्रिक युग में, गीता तो क्या, महाभारत के सारे एक लाख श्लोकों को एक सी.डी. में रखा जा सकता है। अब चाहे वे सी.डी. लगाकर एक लाख श्लोक सुन लें, किन्तु यदि जीवन में गीता नहीं उतरती, तो उससे क्या लाभ! गीता केवल सुनने की ही बात नहीं है। सुनने के बाद हमें क्या करना चाहिये? सुनने के बाद उसे क्रमश: आचरण में लाने का प्रयास करना चाहिये। गीता सुनकर हमें प्रतिबोध होना चाहिये।

'पार्थाय बोधितां', ऐसा यहाँ नहीं कहा है। कहा गया है – 'पार्थाय प्रतिबोधितां'। अब बोध और प्रतिबोध किसे कहते हैं? हमने देखा कि घड़ी में आठ बजकर दस मिनट हो गये हैं। तो हमको समय का बोध हुआ। सामान्य ज्ञान जब होता है, तब उसे बोध कहते हैं। किन्तु जब प्रकृष्ट रूपेण – बहुत अच्छी तरह जिसका बोध हो, ज्ञान हो, जो सुप्त है, वह जग जाय, उसे प्रतिबोध कहते हैं।

यदि प्रतिबोध को ठीक से समझना हो, तो हम अपने दैनिक जीवन से समझ सकते हैं, जिसका सबसे अच्छा अनुभव हमलोगों को प्रतिदिन होता है। जब देर होती है, या कठिनाई होती है तब तो यह प्रकरण अधिक समझ में आता है। सामान्यत: रोज हम सबको भोजन के समय भूख लगती है, तब हमें बोध होता है कि अब हमें भोजन करना चाहिये। हम किसी ऐसी एक यात्रा में निकले कि रेलगाड़ी चौदह या पन्द्रह घण्टे देरी से चल रही है। जिनके पास खाने को कुछ नहीं था, उनको तीव्र भूख लगने लगी। कुछ उपाय नहीं है। जहाँ गाड़ी खड़ी है, वहाँ स्टेशन छोटा-सा है, कहीं कुछ दुकान नहीं, बिक्री की कोई चीज नहीं मिल रही है, पानी की भी कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि चौबीस घण्टे हो जाये। तब वहाँ के गाँव के लोग आकर देखते हैं कि अरे, ये यात्री लोग तो बहुत देर से भूखे हैं, इन्हें बहुत कष्ट हो रहा है। हमें इन यात्रियों को कुछ खाने-पीने को देना चाहिये, इनकी सेवा करनी चाहिये। तब गाँव के लोग जल और भोजन लेकर आये और यात्रियों की सहायता की। तो गाँव के लोगों को यह प्रतिबोध हुआ, तीव्रता से उनको लगा कि इन यात्रियों को भूख लगी है इन्हें कुछ खाने को अवश्य देना चाहिये।

इस 'पार्थाय प्रतिबोधितां' श्लोक से यह समझ में आता है कि भगवान ने अर्जुन को गीता क्यों कहीं। अर्जुन का सचमुच का जो बोध था, जो ज्ञान था, वह लुप्त हो गया था। जिस प्रकार मनुष्य को तीव्र भूख लगने पर भोजन की आवश्यकता का अनुभव होता है, वैसा अनुभव अर्जुन को अपने कर्तव्य के प्रति नहीं हो रहा था। इसीलिये प्रथम अध्याय का नाम ही 'अर्जुनविषाद योग' है। जो विषाद में डूब गया था, ऐसे अर्जुन के मन में जो क्षोभ है, जो दु:ख है, जिससे उन्हें अपने कर्तव्य का बोध नहीं हो रहा है, उस बोध को जगाने के लिये गीता कही गयी। अर्जुन के जीवन की परम आवश्यकता को बोध कराने के लिये गीता कही गयी।

हमें यह स्मरण रखनी होगी कि गीता हमें जगाने के लिये, हमें होश में लाने के लिये कही गयी है। हम बेहोश हैं। यद्यपि आप-हम चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से बेहोश नहीं, होश में हैं। क्योंकि आपस में हम बातचीत कर रहे हैं, सुन रहे हैं। भगवान श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं – मनुष्य माने क्या? जो 'मानहुस' – अर्थात जो होश में हो, जो यह स्मरण रखता है कि मैं मनुष्य हूँ।

जब हम मनुष्य हैं, तो मनुष्य का कुछ कर्तव्य भी हमारे साथ होना चाहिये। मनुष्य और पशु में एक बहुत बड़ा अन्तर यही है कि पशु के जीवन में कोई कर्तव्य नहीं रहता। प्रकृति उससे जैसा करवाना चाहती है, वैसा पशु के जीवन में हो जाता है। उसमें न उसे पुण्य होता है, न पाप होता है। एक कुत्ता अपने शिकार चूहे को काट ले, या आदमी के बच्चे को काट ले, तो न उसको पुण्य होगा, न पाप होगा। क्योंकि वह उसका स्वभाव है। कुत्ते के जीवन में कर्तव्य बोध नहीं, मनुष्य के जीवन में कर्तव्य बोध है। किन्तु जब यह कर्तव्यबोध जाग्रत होता है, तभी जीवन में जिज्ञासा आती है और जीवन में द्वंद होता है। यदि जीवन में द्वंद नहीं है, संघर्ष नही है, तो हम बेहोश हैं या ब्रह्मज्ञानी हैं (जो कि हम नहीं हैं)।

यदि हमारे जीवन में संसार के लिये संघर्ष है कि हम लखपति, करोड़पति बन जायें या हमें सांसारिक सुख अधिक-से-अधिक कैसे मिलें, यदि इसमें हम लग जायें, तो हम गहरी बेहोशी में हैं। इस गहरी बेहोशी से भगवान हमको जगाना चाहते हैं। हमें प्रतिबोधित कर हमारी धर्म संमूढ़ता को दूर चाहते हैं।

हमारी धर्म संमूढ़ता कैसे दूर होगी? यह प्रतिबोध हमको कैसे होगा? इसके लिये हमें अर्जुन के जीवन की कुछ बातों को देखना होगा तब कहीं हम गीता समझ सकेंगे। गीता में जो ७०० श्लोक हैं, वे अर्जुन के एक प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहे गये हैं। यद्यपि प्रथम अध्याय के श्लोकों का इनसे सीधा संबंध नहीं है। किन्तु द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर गीता के अन्तिम अध्याय तक जितने श्लोक हैं, वे अर्जुन के एक प्रश्न के उत्तर हैं। जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये, इसका उपाय इन श्लोकों में बताया गया है। यदि इस बात को हम ध्यान में रखेंगे, तो गीता के किसी भी अध्याय को ठीक-ठीक समझ पायेंगें।

सर्वप्रथम हमें यह जनना चाहिये कि हम गीता क्यों पढ़ना चाहते हैं? क्यों सुनना चाहते हैं? उस पर क्यों विचार करना चाहते हैं? यदि इस क्यों का उत्तर हमारे पास नहीं है, तो गीता हमारी कोई सहायता नहीं कर सकेगी।

मान लीजिये हमारे सिर में दर्द हो रहा है। तो डॉक्टर के पास गया। उन्होंने सिर-दर्द दूर होने की गोली दे दी। अब हमें गोली खाना है। क्यों गोली खाना है? क्योंकि इससे हमारा सिर दर्द दूर हो जायेगा।

यह मानव-मन का स्वभाव है कि जब तक हम मन को किसी कार्य का, कर्म का कारण नहीं बतायेंगे, तब तक हमारा मन उसे पूर्णतः स्वीकार नहीं करेगा। जब डॉक्टर ने कहा कि यह गोली खाने से आपका सिर-दर्द दूर हो जायेगा, तब मन उसके लिये प्रस्तुत हो गया और गोली खाने के बाद सिर-दर्द दूर हो गया। उसी प्रकार जब हम कोई भी धार्मिक या आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ते हैं, तो हमारे पास इसका स्पष्ट उत्तर होना चाहिये कि हम इसे क्यों पढ़ रहे हैं? वैसे ही हम गीता क्यों पढ़ना चाहते हैं? क्यों सुनना चाहते हैं? हम अपना समय इसके लिये क्यों देना चाहते हैं? इसकी हमें स्पष्ट धारणा होनी चाहिये।

बहुत पहले की बात है। इसी गुजरात में एकबार मैं झगड़िया गया था। वहाँ से अंकलेश्वर गया था। वहाँ प्रवचन सुनने के लिये बहुत धनवान, व्यवसायी लोग आये थे। बड़ी सभा हुई थी। वहाँ के प्रवचन का विषय – "मानव-जीवन का प्रयोजन क्या है?" इस पर चर्चा हो रही थी। एक कंपनी के बड़े अधिकारी जो एक वर्ष पूर्व सेवा निवृत्त हुए थे, वे भी उपस्थित थे। जब कार्यक्रम समाप्त हुआ, तो सब अधिकारी एक साथ जलपान ले रहे थे। मैं भी वहाँ बैठा था। मेरे साथ के लोग कोई अँग्रेजी, कोई हिन्दी और कोई गुजराती में आपस में बात कर रहे थे। वे निवृत्त अधिकारी अपने दोस्तों के साथ बात करते हुये कह रहे थे, "बा स्वामीजी ने बहुत सरस बात कहयूँ। पन, भाई सू फायदा थसे?" – स्वामीजी ने बड़ी अच्छी बात कही, पर भाई, उससे क्या फायदा होगा? अब उनको लगा कि मानव जीवन का प्रयोजन सुनकर क्या फायदा होगा? अगर सेवानिवृत्त होने के बाद फिर से नौकरी मिल जाती, तो कुछ फायदा हो जाता, किन्तु ये सब सुनने से क्या लाभ होगा? यदि ऐसी मनोवृत्ति होगी, तो चाहे हम गीता सुनें, पुराण सुनें और अन्य कुछ हिन्दूधर्म के ग्रंथों को भी सुन लें, तो भी कुछ फायदा नहीं होगा।

अतः हमें निश्चित रूप से ज्ञात होना चाहिये, कि मैं किसलिये गीता पढ़ या सुन रहा हूँ। उसकी शर्त है अर्जुन की मनोवृत्ति। जब अर्जुन के समान हमारी मानसिक स्थिति होगी, तभी हम गीता समझ सकेंगे।

अर्जुन के बारे में हम जो चर्चा कर रहे थे, वह गीता के दूसरे अध्याय का साँतवा श्लोक है –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।२.७

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि इस श्लोक की आवृत्ति करके अगर कोई सो जाये, तो उस व्यक्ति को उसकी समस्या का समाधान मिल जाता है। श्रद्धापूर्वक जो लोग ऐसा करते हैं, उनको वैसा फल प्राप्त भी होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१३)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

तृतीय परिच्छेद

२० कार्तिक, शनिवार, चतुर्दशी का दिन। अपराह्न में साढ़े तीन बजे मठ पहुँचकर मैंने सबके साथ मुलाकात की। बाबूराम महाराज पूर्व की ओर मुख किये बरामदे में बैठे हैं। कुछ भक्त तथा कुछ छात्र आ पहुँचे। विभिन्न विषयों पर चर्चा के बाद ढाका मठ तथा मिशन के लिए सात बिघे जमीन खरीदने का प्रसंग उठने पर एक भक्त ने कहा, "सात बिघा जमीन तो बहुत है।"

बाबूराम महाराज – "हमारे मठ की इस समय (१९१५ ई.) बीस बीघे जमीन है, तो भी बीच-बीच में छोटा पड़ जाता है। उत्सव के समय क्या कम लोग आते हैं – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई! ठाकुर भले ही ब्राह्मण के घर जन्मे थे, परन्तु वे केवल ब्राह्मणों के लिए नहीं आये, वे तो मुसलमानों के भी पीर थे।"

एक छात्र – "ठाकुर की लीला की जो कथाएँ सुनने में आती हैं, उन्हें देखे बिना विश्वास नहीं होता। और विश्वास हुए बिना तो सब निरर्थक है।"

बाबूराम महाराज – "न्यायाधीश अच्छे और सज्जन गवाह पर विश्वास करते हैं। मान लो कि तुम न्यायाधीश हो और मैं गवाह हूँ। मैं कहता हूँ कि मैंने अपने नेत्रों से देखा है कि ठाकुर में कितने अपूर्व भाव थे, कितना तीव्र वैराग्य था, कितना अनुपम ज्ञान था, कितने अद्भुत कर्म थे! सब लोग क्या सब कुछ देख सकते हैं? कोई देखता है, कोई सुनता है और कोई पढ़कर विश्वास करता है। विश्वास! अटल विश्वास चाहिए! सरल विश्वास हुए बिना कुछ भी नहीं होता।

"एक लड़का है, बी. ए. में पढ़ता है। बीरभूम जिले में उसका घर है। उसका विवाह भी हुआ है। बीच-बीच में वह मुझे पत्र लिखता है। कुछ दिनों पूर्व उसने लिखा था कि उसकी इन्द्रियाँ बड़ी चंचल हो उठी हैं, बड़े अशान्ति का अनुभव कर रहा है। कातर होकर उसने मुझे आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की थी। मैंने लिखा – तुम ठाकुर के शरणापन्न हो जाओ, मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे तुम्हें शान्ति प्रदान करें। पत्र पाने के बाद उसने कितना सुन्दर उत्तर दिया है!"

इतना कहने के बाद उन्होंने एक ब्रह्मचारी को अपनी मेज से पत्र ले आने को कहा और 'देखोगे?' कहते हुए उसे वीरेश्वर को पढ़ने के लिए दे दिया। पढ़ना समाप्त हो जाने पर बाबूराम महाराज कहने लगे, "कितना सुन्दर लिखा है – आपके उपदेशानुसार ठाकुर के शरणापन्न होकर उन्हें पुकारना आरम्भ करने के बाद से देख रहा हूँ कि मन की चंचलता न जाने कहाँ चली गयी है – इन्द्रियाँ मानो केचुओं के समान हो गयी हैं, आदि आदि!! विश्वास चाहिए, विश्वास! विश्वास से ही हरि मिलते हैं, तर्क से वे बहुत दूर हैं। समझे!"

एक भक्त – "महाराज, आसानी से ईश्वर की धारणा कैसे हो सकती है?"

बाबूराम महाराज – "ईश्वर आदि के विषय में एक उल्टी-सीधी धारणा न बनाकर ठाकुर को पुकारो। उनका स्मरण-मनन करो, ध्यान करो। ठाकुर के शरणापन्न क्यों नहीं होते? वे कल्पतरू जो हैं। भाई! मुझे तो ठाकुर-स्वामीजी का ही अन्त नहीं मिलता, और फिर ईश्वर की धारणा? ठाकुर के विषय में स्वामीजी क्या कम कट्टर थे? कृष्ण कहो, चैतन्य कहो, बुद्ध कहो और चाहे किसी की भी बात क्यों न लो, परन्तु उनके जैसा दूसरा कोई नहीं हुआ।

"ठाकुर सभी वस्तुओं में चैतन्य देखा करते थे। दुर्वा के ऊपर से कुछ ले जाने से, दाग पड़ जाने पर उन्हें कष्ट होता था। नये कपड़े को चड़-चड़ करके फाड़ने से उनके प्राण भी फड़-फड़ करने लगते। समाधि की अवस्था में कोई अपवित्र व्यक्ति उनका स्पर्श तक नहीं कर सकता था।"

ये सब बातें कहते हुए महाराज निस्तब्ध होकर मानो किसी दिव्यलोक में जा पहुँचे। थोड़ी देर तक सभी अवाक् होकर अब तक जो कुछ सुना, उसी पर चिन्तन करने लगे।

कुछ काल बाद महाराज फिर कहने लगे – "अहा! प्रभु की क्या ही अपार दया है! एक दिन ठाकुर ने मेरी माँ से कहा, 'यदि कुछ मनौती करनी हो, तो (अपना शरीर दिखाते हुए) यहाँ मनौती करने से ही सब हो जायगा।' विश्वास चाहिए। विश्वास अन्तिम जन्म का लक्षण है।"

इस चर्चा के दौरान ही स्वामी शुद्धानन्द वहाँ आ पहुँचे। उनकी ओर उन्मुख हो बाबूराम महाराज बोले, "देखो, इन लोगों को कट्टर होने का उपदेश दे रहा हूँ।"

स्वामी शुद्धानन्दजी – "अच्छा है, आप जो कुछ कहेंगे, उसी से इन लोगों का कल्याण होगा।"

वीरेश्वर – "इन बातों को सुनकर हम लोगों का बड़ा भला हुआ है।"

स्वामी शुद्धानन्द – "भला हुआ है, ऐसा मुख से नहीं सुनना चाहता। हम प्रत्यक्षवादी हैं, देखना चाहते हैं।"

वीरेश्वर – "आशीर्वाद दीजिए कि ये सारे उपदेश सार्थक हों।"

स्वामी शुद्धानन्द चले गये। बाबूराम महाराज थोड़ी देर मौन रहे, बाकी लोग नीरव बैठे रहे। इसके बाद उन्होंने गम्भीर स्वर में – **आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्। नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।।** – की आवृत्ति करते हुए निस्तब्धता को भंग किया और कहने लगे, "जान लेना कि तुम लोगों का यह अन्तिम जन्म है। केवल ठाकुर को पुकारो, वे कल्पतरु हैं – जिसे जो चाहिए, उसे वही मिलता है। वे सकल शास्त्रों के मूर्त विग्रह हैं। अहा, ऐसा कोई दूसरा कहाँ मिलेगा?"

एक भक्त – "ये लोग बड़े भाग्यवान हैं, नहीं तो इन पर आपकी इतनी कृपा कैसे होती !"

सूर्यास्त हो चुका है। काफी देर से धर्मचर्चा होती देखकर ब्रह्मचारी रासबिहारी (अरूपानन्द) बोले – "महाराज, अब थोड़ा बाहर घूम आइये। आपका स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है।"

बाबूराम महाराज – "यह शरीर अच्छे कार्य में चला जाय, तो भी ठीक है। यह तो अत्यन्त तुच्छ वस्तु है।"

ब्र० रासबिहारी – "इतनी देर तक बहुत बोले, अब आप थक गये हैं।"

बाबूराम महाराज – "बुरी बातें लेकर तो बकझक हुई नहीं ! ठाकुर की बातें करने से स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता।"

यही सब बातें करते हुए आरती का घण्टा बज उठा। सभी लोग आरती देखने जाने लगे। आरती के बाद वीरेश्वर पुनः बाबूराम महाराज के पास गये और उनकी पदसेवा का अवसर पाकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव करने लगे। थोड़ी देर बाद डॉक्टर काँजीलाल आ पहुँचे। वे बाबूराम महाराज के साथ बातें करते-करते सेवा में सम्मिलित हो गये। इस पर बाबूराम महाराज ने कहा – "डॉक्टर सब जानता है न ! सेवा कैसे की जाती है, यह डॉक्टर से सीख ले।"

एकादश सर्ग - बिदगाँ में स्वामी प्रेमानन्द

प्रथम परिच्छेद (भय ही मृत्यु है)

ढाका जिले के विक्रमपुर के अन्तर्गत बिदगाँ ग्राम में भगवान श्रीरामकृष्ण का महोत्सव है। वहाँ के भक्तों द्वारा निमंत्रित होकर १७ मई, १९१३ के दिन पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्द और ब्रह्मचारी रामचन्द्र का बिदगाँ में शुभागमन हुआ। अगले दिन १८ मई, रविवार को वहाँ के नीलखोला मैदान में एक विराट् उत्सव होनेवाला था।

उत्सव के स्थान पर उत्तर की ओर ठाकुर का मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर में ठाकुर, स्वामीजी तथा अन्य देवी-देवताओं के चित्र ढेर सारे पुष्पों से सुसज्जित हैं। मन्दिर के समक्ष विशाल कीर्तन-मण्डप है। भोर से ही विभिन्न गाँवों से कीर्तन-दल आकर उस मण्डप में कीर्तन कर रहे हैं। कीर्तन समाप्त हुआ। वहाँ समवेत लोगों द्वारा महाराज के श्रीमुख से दो-चार उपदेश सुनने का आग्रह व्यक्त किये जाने पर वे कहने लगे, "मैं क्या जानता हूँ और क्या कहूँ? हमारे ठाकुर के अनेक अमूल्य उपदेश हैं। जो उनके एक उपदेश का भी पालन कर सकता है, वह पवित्र हो जाता है। वे सभी को कहते – भगवान के ऊपर निर्भर करो। उनकी इसी बात को यदि हम कार्य रूप में परिणत कर सके, तो धन्य हो जायेंगे।

"संसार में भय ही मृत्यु है। मृत्यु के हाथ से छुटकारा पाने के लिए निर्भय होना होगा, भय को दूर करना होगा। इसी भय को दूर करने का उपाय है, भगवान को अपना जन मानकर उनके ऊपर निर्भर रहना। जो भगवान को अपना समझ सकता है, उसे कोई भय नहीं है, उसकी मृत्यु नहीं है। देखो, एक अंग्रेज निर्भयतापूर्वक देश-विदेश और वन-जंगल में घूम आता है। क्योंकि वह जानता है कि उसकी सहायता करने को सम्पूर्ण ब्रिटिश राजशक्ति उसके पीछे खड़ी है। वह पूरी ब्रिटिश राजशक्ति को अपना समझ सकता है, इसीलिए वह निर्भीक है। इसी प्रकार यदि हम भी अभय तथा आनन्द की खान श्रीभगवान को अपना आदमी समझकर उन पर निर्भर हो सकें, तो फिर हममें भय नहीं रह जायगा। हम अमर की सन्तान हैं, हमें भला कैसा भय? हम अभीः हैं, इसीलिए हम अमर हैं। यह ठाकुर का ही उपदेश है। हम लोग उनका यही उपदेश हृदय में अनुभव करते हुए और तदनुसार कार्य करके धन्य हो सकते हैं।"

आहार के उपरान्त बाबूराम महाराज ने थोड़ी देर विश्राम किया। तत्पश्चात् मुंशीगंज के कुछ वकील तथा शिक्षित लोग महाराज को प्रणाम करके उनके पास बैठ गये।

एक व्यक्ति – "हम सभी भगवान की सन्तान हैं। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं। तो फिर हममें से कोई सुखी, तो कोई दुखी क्यों है? कोई राजा, तो कोई भिखारी क्यों है?"

बाबूराम महाराज – "जिसका जैसा कर्मफल। जगत-वैचित्र्य ही सृष्टि का रहस्य है। बहुत्व के लिए ही सृष्टि है। विविध कर्मफल ही बहुत्व का पुष्टिसाधक है।"

प्रश्न – "कर्मफल के कारण ही यदि लोग सुखी-दुखी हों, तो फिर कर्मफल क्या इसी जन्म का है?"

बाबूराम महाराज – "केवल इसी जन्म का क्यों होगा? पिछले जन्मों का भी है। यह जन्म ही तो जन्म-जन्मान्तर के फलस्वरूप है।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

भीष्म पितामह का वरदान

महेन्द्रनाथ गुप्त 'म'

भगवान जब अवतार के रूप में धरती पर आते हैं, तो मनुष्य उन्हें पहचान नहीं पाता। पाण्डवगण यदा-कदा उन्हें समझ लेते थे, परन्तु भगवान की माया अगले ही क्षण उन्हें सब कुछ भुला देती। महाभारत का युद्ध जारी था।

दुर्योधन तथा शकुनी के निर्मम वाक्यबाणों से विद्ध होकर भीष्म पितामह ने प्रतिज्ञा की कि कल पृथिवी को पाण्डवों से विहीन कर दूँगा। श्रीकृष्ण ने अपने रणकौशल से इस प्रतिज्ञा को उड़ा दिया। उनकी युक्ति यह थी कि उन्होंने उसी दिन द्रौपदी को भीष्म पितामह के पास भेजकर उसे – 'अखण्ड सौभाग्यवती होओ' – ऐसा वर प्राप्त करा दिया।

युद्ध के नवें दिन पितामह अर्जुन के बाणों से घायल हो गये। वे अपने शिविर में पड़े हुए असह्य पीड़ा के बीच भी ध्यान करने का प्रयास कर रहे थे। हे भगवान ! उसी समय शकुनी को साथ लिये हुए दुर्योधन वहाँ आ पहुँचा। एक तो वे पहले ही युद्ध में घायल हो चुके थे और अब दुर्योधन आकर उन पर अपने वाक्य-बाण चलाने लगा। वह बोला, ''आप पक्षपात कर रहे हैं। आप पूरे मनोयोग के साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं। आप अर्जुन के प्रति मोहाविष्ट हैं। हमारा धन, मान, राज्य और जीवन – सब कुछ आप ही के हाथों में है। परन्तु आप विश्वासघाती हैं। आप प्रधान सेनापति के धर्म का पालन नहीं कर रहे हैं।'' इन दुर्वचनों से आहत होकर पितामह उत्तेजित होकर बोले, ''ठीक है, तो फिर कल मैं पृथ्वी को पाण्डवों से विहीन कर दूँगा।'' दुर्योधन खुशी से उछल उठा। परन्तु पाण्डवों के शिविर में निराशा छा गयी।

गुप्तचरों के मुख से यह समाचार पाकर द्रौपदी तो प्रायः उन्मत्त ही हो गयी। वे तत्काल श्रीकृष्ण के शिविर में गयीं और उनसे शरणागति की याचना की। श्रीकृष्ण ने पहले तो उन्हें डाँटा। बोले, ''इतनी रात गये मेरे शिविर में क्यों आयी हो? अभी अपने शिविर में लौट जाओ।''

द्रौपदी ढंग के वस्त्र भी नहीं धारण कर सकी थी। वह धरती पर लोटकर उन्हें बारम्बार प्रणाम और स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करने लगी, ''हे महायोगी, हे पाण्डवधन, आज आपको इस विपत्ति से हमारा उद्धार करना ही होगा। तुम पाण्डव-सखा कहलाते हो, अपने इस नाम की लाज रखो।''

चतुर-शिरोमणि श्रीकृष्ण बोले, ''देखो, मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता। परन्तु तुम यदि सती होओ, तो केवल तुम्हारा सतीत्व ही तुम्हें इस संकट से बचा सकता है।''

श्रीकृष्ण दोनों तरफ से धर्मसंकट में थे। सत्य-संकल्प भीष्म की प्रतिज्ञा की रक्षा करना भी उन्हीं का काम था। क्योंकि साधारण मनुष्य तो सत्य के पीछे-पीछे चलता है, परन्तु सत्य तो ब्रह्मद्रष्टा भक्तों का अनुसरण करता है। भीष्म ने प्रतिज्ञा की है – ''कल मैं सभी पाण्डवों का वध कर डालूँगा।'' यह भगवान के लिये भी एक समस्या थी।

और दूसरी ओर पाण्डवों की रक्षा भी उन्हीं की समस्या थी। अन्यथा धर्म-स्थापन का उद्देश्य, जिसके लिये उनका अवतरण हुआ है, वही विफल हो जायगा। श्रीकृष्ण दुविधा में पड़ गये। उन्होंने विचार किया कि यदि भीष्म के ही मुख से 'पाण्डव-विहीन' की प्रतिज्ञा का निषेध हो जाय, तभी इस वर्तमान धर्मसंकट से उभरा जा सकता है। और इसके लिये भीष्म को ही अन्त तक के लिये युद्ध से हटा देना होगा।

तात्कालिक कर्तव्य था भीष्म के मुख से यह निकलवाना कि पाण्डव दीर्घजीवी हों। ऐसा विचार करके छलिया श्रीकृष्ण उस गहरी रात में मोहिनी वेश धारण करके द्रौपदी के साथ बाहर निकल पड़े। द्रौपदी ने एक शोकार्त ग्रामीण कृषक-पत्नी का वेश धारण किया और कृष्ण ने एक ग्रामीण कृषक का। वे अपनी बहन को सांत्वना दिलवाने के लिये महात्मा भीष्म के शिविर में ले जा रहे थे। लगता है उन दिनों कभी भी अबाध रूप से महापुरुषों का दर्शन किया जा सकता था।

वे कौरवों के शिविर में आ पहुँचे। प्रहरी ने छद्मवेशी कृषक भाई-बहन का रास्ता रोक दिया। भाई बोला – मेरी बहन अत्यन्त शोक-सन्तप्त है। वह अपने शोक-निवारण हेतु महात्मा भीष्म का दर्शन करना चाहती है। प्रहरी ने पूछा,

पिछले पृष्ठ का शेषांश

प्रश्न – ''अच्छा, यदि ऐसा ही हो, तो हम बाइबिल में जो आदम का पतन देखते है, वह क्यों हुआ?

महाराज – ''आदम ने निषिद्ध फल का स्वाद लिया था न ! भगवान ने उन्हें पहले ही कह दिया था कि उस निषिद्ध वृक्ष के पास मत जाना, उसके फल मत खाना। भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने पर पतन क्यों नहीं होगा?

प्रश्नोत्तर से सन्तुष्ट होकर उन लोगों ने हाथ जोड़कर महाराज का अभिवादन किया और अपने अपने घर लौट गये। उनके चले जाने पर ढाका कॉलेज के सेवानिवृत्त सुप्रसिद्ध प्राध्यापक राजकुमार सेन और अन्य अनेक उच्च पदस्थ सुशिक्षित गण्यमान्य लोग भी महाराज का दर्शन करने आये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

"तुम्हारी बहन सधवा है या विधवा?" छलिया श्रीकृष्ण बोले, "भाई, क्या तुम्हारे माँ या बहन नहीं हैं? उन्हें क्या कभी शोक नहीं होता? मेरी यह बहन भयंकर शोक से आक्रान्त है। तुम उसे दूर करने में सहायता करना तो दूर, उल्टे उसका शोक बढ़ाने का ही प्रयास कर रहे हो। तुम्हारा क्या अपना घर नहीं है, परिवार नहीं है, तुम्हारे मन में क्या जरा भी स्नेह-ममता नहीं है? हे भगवान !" इतना कहकर वे विलाप करने लगे। प्रहरी हक्का-बक्का रह गया और उन्होंने बहन को भीतर चले जाने दिया, परन्तु श्रीकृष्ण को मना कर दिया। कृष्ण बोले, "ठीक है, मैं नहीं जाऊँगा।"

जब भीष्म पितामह ने प्रतिज्ञा की थी कि 'कल मैं पृथ्वी को पाण्डवों से विहीन कर दूँगा' – तब दुर्योधन ने यह आदेश जारी कर दिया था कि समस्त कौरव शिविर में आज रात किसी भी सधवा स्त्री को पितामह की शिविर की ओर जाने नहीं दिया जायगा। दुर्योधन के सलाहकार शकुनी को पहले से ही यह आशंका थी कि वह छलिया कृष्ण द्रौपदी के माध्यम से कोई-न-कोई अनर्थ घटा सकता है। इसीलिये प्रहरी ने पहले प्रवेश देने से मना कर दिया था।

उन्होंने द्रौपदी को समझा दिया था कि पितामह शरीर तथा मन की पीड़ा से जर्जर हो चुके हैं और वे समाधिस्थ होने के प्रयास में ध्यानमग्न होंगे। तुम जाकर उनके चरणों में लोट जाना और उच्च स्वर में उनके कानों में कहना, "हे पितामह, अपनी पौत्रवधू की चरण-वन्दना स्वीकार कीजिये।" द्रौपदी के बारम्बार वैसा ही करने पर पितामह का बाह्य ज्ञान लौट आया और उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, "देवी, चिर सौभाग्यवती होओ !" द्रौपदी बोली, "ऐसा भला कैसे सम्भव है? थोड़ी देर पहले आपनी ही तो कहा है कि 'कल मैं पृथ्वी को पाण्डवों से विहीन कर दूँगा'।"

भीष्म अपनी आँखें मलने लगे और द्रौपदी का हाथ पकड़ कर बोले, "कृष्णे, तुम्हें जिसने सिखा-पढ़ाकर भेजा है, वह कहाँ है?" द्रौपदी बोली, "वह देखिये, प्रहरी के पास खड़ा हुआ हँस रहा है।" भीष्म द्रौपदी के साथ श्रीकृष्ण के पास गये और उन्हें नमस्कार किया, परन्तु कुछ बोले नहीं। इसके बाद वे अपने आसन पर लौट आये। अब वे समझ गये थे कि मुझे अब इस युद्ध से विदा लेनी होगी। वैसे मैं अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करूँगा, परन्तु छलिया श्रीकृष्ण की चतुराई के कारण मुझे अवश्य युद्धभूमि से हटना होगा। इस युद्ध में पाण्डवों की विजय सुनिश्चित है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण उन्हीं के पक्षधर हैं।

अगले दिन शिखण्डी को अपने रथ में सामने बैठाकर अर्जुन युद्ध करने निकले। भीष्म ने अपने अस्त्रों को त्याग दिया। शिखण्डी नपुंसक था। भीष्म ने संकल्प कर रखा था कि अशुभ का दर्शन हो, तो अस्त्र त्याग दूँगा। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण यह बात जानते थे। अब भीष्म के कर्मों का क्षय हो चुका था, इसीलिये श्रीकृष्ण ने उन्हें हटा लिया। ❑❑❑

(बँगला 'श्रीम-दर्शन', खण्ड १३, पृ. ४३-४६)

सभी को जगाता चला चल

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

स्वयं जाग, जग को जगाता चला चल।
सखे ! प्रेम के गीत गाता चला चल।।

जभी जाग जा तू, तभी से सबेरा,
हटा दे हृदय से विकारों का डेरा,
न मन के भवन में बसे अब अँधेरा,
रहे चित्त में नित्य शिव का बसेरा,
सुमति-ज्योति से तम भगाता चला चल।
सखे ! प्रेम के गीत गाता चला चल।।

बहाता चले कर्म की पुण्य धारा,
थहाता चले धर्म का सिन्धु सारा,
न करना कभी पुण्य पथ से किनारा,
रहे लोक-मंगल तुझे नित्य प्यारा,
सुकृत को हृदय से लगाता चला चल।
सखे ! प्रेम के गीत गाता चला चल।।

मनस्वी वही, जो न मन को गँवाता,
वही सन्त, जो मन-सुमन को खिलाता,
वही है मनुज, जो सहज मान जाता,
वही सिद्ध, जो हाथ प्रभु से मिलाता,
न जग से स्वयं को ठगाता चला चल।
सखे ! प्रेम के गीत गाता चला चल।।

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

माँ के देहान्त के कई माह बाद, राखाल महाराज बलराम भवन में थे। बोले, "उद्बोधन में तो सभी काम-काज में लगे हुए हैं, केवल शरत् महाराज और योगीन-माँ ही साधन-भजन लेकर हैं। शिवानन्दजी ने मुझसे कहा था, "जिन्हें तुम लोग नानी कहते हो, उन्होंने खूब साधन-भजन किया है! अभी भी करती हैं।" लेकिन योगीन-माँ ज्योंही कुछ नासमझी की बात कहतीं, त्योंही माँ दृढ़ स्वर में उसका प्रतिवाद करतीं। योगीन-माँ अपने पिता की द्वितीय पत्नी की इकलौती पुत्री थीं, अत: कभी-कभी कुछ ज्यादा ही नाराज हो जातीं। एक दिन नित्य के गंगास्नान, जप आदि बाद उद्बोधन में आते ही योगीन-माँ ने माँ की सेवा-मण्डली के एक ब्रह्मचारी के किसी व्यवहार पर नाराज होकर नीचे से ही जोर से चिल्लाकर माँ से कहा, "माँ! तुम रासबिहारी को अभी भगा दो। नहीं तो मैं अब इस घर में प्रवेश नहीं करूँगी। या तो वह जायेगा, नहीं तो मैं जाऊँगी।"

माँ सारा शोरगुल सुन रही थीं। योगीन-माँ के ऊपर जाने पर माँ ने दृढ़तापूर्वक कहा, "क्यों योगीन! क्या ऐसी बात कहनी चाहिये? कैसी अमंलकारी बात! नासमझी मत करो। शान्त हो जाओ। ठाकुर की प्रसादी – मिश्री का शर्बत पीओ। उसकी बात भूल जाओ। उसने जो अनुचित किया है, अब नहीं करेगा। मैं उसकी जिम्मेदारी लेती हूँ। क्या भगाने की बात कहनी चाहिये! वह घर-द्वार छोडकर, सगे-स्वजनों को छोड़कर ठाकुर और मेरे पास आया है। बेटी, उसे तो मैं किसी भी हाल में नहीं भगा सकती। इस पर यदि तुम न आओ, तो मैं क्या कर सकती हूँ?"

यही है उनके व्यक्तित्व का यथार्थ वैशिष्ट्य! श्रीरामकृष्ण की सच्ची सहधर्मिणी! माँ का चरित्र अपूर्व सामंजस्य – साम्य-सुषमा से परिपूर्ण है। जब, जिसे, जो कहना चाहिए, ठीक उसी समय कहना। उस समय उन ब्रह्मचारी ने उनमें अपनी सचमुच की विशुद्ध माँ, वास्तविक माँ को पाया था। उनकी मोहमयी माँ तब तक दिवंगत हो चुकी थीं। ये ही ब्रह्मचारी प्राय: प्रतिदिन चुपचाप अपने कमरे में बैठकर बड़े आग्रह के साथ माँ के वार्तालापों को लिपिबद्ध करते रहते थे। 'माँ की बातें' ग्रन्थ के रूप में आज जो सामग्री उपलब्ध है, उसके मूल में वे ही हैं। गोलाप-माँ भी इस विवाद में शामिल हो गयीं। वे ज्ञान, कर्म, भक्ति – सबमें कुशल थीं। बोलीं, "सुनो योगीन, तुम गंगातट पर एक लाख जप करके आयी हो, तो किस पर एहसान किया? आते ही सारा घर सिर पर उठा लिया! योगीन-माँ ने कहा, "गोलाप दीदी, तुम तो मुझे कभी सहन नहीं कर पाती।"

बीच-बीच में नारद का अभिनय न होने से खेल जमता नहीं। दोनों वृद्धायें अगले ही क्षण प्रेम से गले मिल जातीं। दोनों में एक दूसरे के प्रति अद्भुत प्रेम था। तो भी कभी-कभी इस प्रकार बच्चों की तरह झगड़ना भी होता था। हमारे आसपास के सभी घरों के समान माँ की गृहस्थी में भी यदा-कदा एकाध ऐसा बेसुरा राग भी बज उठता। माँ की गृहस्थी भी तो पाँच लोगों को लेकर ही थी। लेकिन माँ उपस्थित रह कर अपनी सुरीली राग को ही सबके ऊपर बनाये रहतीं।

माँ मानो वह सोने की प्रतिमा हैं, जिन्हें ठाकुर ने बचपन से ही दीर्घ काल तक अपने हाथ से गढ़ा था। उनके समान दूसरा कौन है? पाँच वर्ष की उम्र में विवाह। तभी से कई बार गाँव में आकर इस दिव्य कारीगर ने प्रतिमा-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। इसके बाद मूर्तिकार सब कुछ भूलकर साधना-अनल में डूब गये और जब वे निखरकर बाहर आये, तो देखा कि माँ-काली ने उनकी परीक्षा के लिये श्री सारदा देवी को समीप ला दिया है। १८७२ ई. में पूर्ण-यौवना माँ का दक्षिणेश्वर-तीर्थ के सिद्ध साधन-पीठ में आगमन हुआ। चौदह वर्ष तक ठाकुर के समक्ष माँ का सेवा -व्रत, ध्यान-जप तथा उपासनामय जीवन-गठन चलता रहा। यह एक अटूट प्रक्रिया थी। उनके रहते ही, इसी साधना-पीठ में माँ की पूर्ण सिद्धि हो गयी। माँ ने इसे बाहर नहीं प्रगट होने दिया। उस समय आवश्यकता भी नहीं थी। इस प्रसंग में योगीन-माँ की नौबतखाने की स्मृति याद आ रही है। ठाकुर कहते, "अरे लाटू, देख, जो कोई, जो भी वस्तु लाता है, सब उसे बताना, दिखाना, नहीं तो उनका उद्धार कैसे होगा?"

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२०५. अपराधी निज पक्ष में देता शास्त्र-प्रमाण

ब्रिटिश शासन के दौरान ग्रिफिथ नामक एक अंग्रेज ने संस्कृत में विशेष रुचि होने के कारण उस विषय में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की थी। उनकी एक संस्कृत कॉलेज में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हुई। बाद में वे उस कॉलेज के प्राचार्य भी बन गये। 'रामचरित-मानस' उनका प्रिय ग्रन्थ था और वे रात के समय नियमित रूप से उसका पाठ करते थे।

एक बार उनके एक छात्र ने अपने एक सहपाठी को पीटा, जिससे वह घायल हो गया। बात जब ग्रिफिथ साहब को ज्ञात हुई, तो उन्होंने छात्र को अपने कक्ष में बुलाया। छात्र ने अपराध कबूल किया। उसे पता था कि 'रामचरित-मानस' ग्रिफिथ साहब का बड़ा प्रिय ग्रन्थ है। इसलिए उसने सोचा कि क्यों न इसी ग्रन्थ के उद्धरण के सहारे उनसे क्षमा-प्रार्थना की जाए और उसने निम्नलिखित चौपाई सुना दी –

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं।
गुर पितु मातु मोद मन भरहीं।। १/२७७/३

– बालक यदि कुछ चपलता भी करते हैं; तो गुरु, पिता और माता के मन में आनन्द ही भर जाता है।

ग्रिफिथ साहब को छात्र द्वारा समयोचित दोहा करने पर प्रसन्नता तो हुई, किन्तु उसके अपराध को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता था। उसे क्षमा करने से उच्छृंखल होने का डर था। उन्होंने जवाब में तुरन्त यह दोहा कहा –

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा।। ७/१०६/४

– अरे दुष्ट ! यदि मैं तुझे दण्ड न दूँ, तो मेरा वेदमार्ग ही भ्रष्ट हो जाए।। और बोले, "तुमने स्वयं अपना अपराध स्वीकार किया है और तुम्हारे अपराध को 'लघु अपराध' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तुम्हारे सहपाठी के प्राण तक जाने की सम्भावना थी। गलत काम के लिये दण्ड देने के मानस में अनेक उदाहरण मिलेंगे। इसलिये इस ग्रन्थ में तुम्हारी विशेष आस्था होने के कारण तुम तो अपराध के लिये दण्ड पाने का भी समर्थन करोगे। परन्तु तुम्हें 'दण्ड कठोरा' न देकर केवल इतनी ही सजा देता हूँ कि तुम कार्यालय में १० रुपये जमा करो और उस छात्र से क्षमा माँगकर वचन दो कि तुम उसकी सेवा करोगे।" अपराधी छात्र को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने वचन दिया कि उनके द्वारा निर्धारित दण्ड उसे स्वीकार है।

२०६. जहाँ शील-शुचिता नहीं, वहाँ न सुख-विश्राम

देवराज इन्द्र ने एक बार देवताओं के गुरु बृहस्पति से पूछा, "गुरुदेव, क्या आप बता सकेंगे कि ऐश्वर्य और वैभव की प्राप्ति कैसे हो सकती है?" बृहस्पति ने देवराज को असुरराज शुक्राचार्य के पास जाने को कहा। शुक्राचार्य के पास जाने पर वे बोले – महात्मा प्रह्लाद ही इसका उत्तर दे सकते हैं। इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके प्रह्लादजी के पास जा पहुँचे। प्रह्लाद ने बताया, "विप्रवर, विश्व का सारा ऐश्वर्य शील पर टिका है।" इन्द्र ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "क्या आप मुझे अपना शील दे सकेंगे?" प्रह्लाद क्षण भर के लिए रुके, फिर बोले, "मैंने तुम्हें अपना शील देता हूँ। प्रह्लाद के मुँह से ये शब्द निकलते ही उनकी देह से एक तेज निकला और जाकर इन्द्र की देह में समा गया। वह तेज शील था। इतने में एक और तेज निकलकर वह भी इन्द्र की देह में चला गया। प्रह्लाद ने पूछा, "तुम कौन हो?" इस पर उसने स्वयं को धर्म बताया। उसने कहा, "महाराज, शील के न रहने पर, मैं कैसे टिक सकता हूँ? इसी प्रकार दो और तेज निकलकर इन्द्र की देह में जा बसे। पूछने पर उन्हें स्वयं को सत्य व बल बताया। उन्होंने बताया कि शील के अनुचर होने के कारण हमारा स्थान भी अब इन्द्र की देह है।" प्रह्लाद ने साश्चर्य इन्द्र की ओर देखा ही था कि इतने में उनके शरीर से एक और तेज निकला, जिसने स्वयं को लक्ष्मीजी बताते हुए कहा, "प्रह्लाद, यह इन्द्र है; ब्राह्मण का वेष धारण करके तुम्हें छलने आया है। इसने कपट से तुम्हारा सारा ऐश्वर्य हथिया लिया है। अब यही उनका स्वामी हो गया है।"

प्रह्लाद ने इन्द्र से कहा, "देवराज, आपको शील माँगना ही था, तो आपने छद्मवेश क्यों धारण किया? आपने मुझसे सीधे माँगा होता, तो भी मैंने सहर्ष दे दिया होता।" इन्द्र को पश्चात्ताप हुआ कि उसे लोभ के कारण छल का सहारा लेना पड़ा। उसने प्रह्लाद से अपने छल के लिये क्षमा माँगी और कहा, "शील ऐसी चीज है जिससे विमुख होने के लिये कोई भी उद्यत नहीं होता। आप में दिव्य गुणों का भण्डार होने के कारण ही आपने शील देने में जरा भी हिचक न दिखाई।"

‘रामनाम-संकीर्तन’ का इतिहास (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

मंगलाचरण तथा उपसंहार के रूप में श्लोकों का संयोजन

अब तक हमने देखा कि १९०९ ई. के आरम्भ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने बंगलोर में पहली बार ‘नाम-रामायणम्’ को सुना और उसे लिपिबद्ध कराकर पुरीधाम ले आये। वहाँ एक वर्ष तक उसे संगीत आदि से सज्जित करने के बाद १९१० ई. के मार्च में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के समय उसे बेलूड़ मठ में सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया। प्रचार हेतु उसके कई संस्करण मुद्रित हुए। १९११ ई. में ‘महाराज’ की भूमिका के साथ उसका एक नया संस्करण निकला। तदुपरान्त वह क्रमशः प्रचारित होता हुआ अब न केवल पूरे भारतवर्ष अपितु विश्व के कई देशों में गाया जाता है। परन्तु वर्तमान पुस्तिका के वर्तमान संस्करणों के प्रारम्भ तथा अन्त में हमें जो २८ श्लोक मिलते हैं, उनका संकलन स्वामी तुरीयानन्दजी ने कब किया और उन्हें वर्तमान संस्करण में कब जोड़ा गया? इसकी जानकारी अभी नहीं मिल सकी है।

स्वामी ओंकारेश्वरानन्द जी ने ३ दिसम्बर १९१५ ई. को बेलूड़ मठ में गाये गये ‘संकीर्तन’ का जो विवरण दिया है, उसमें केवल एक श्लोक – ‘**नान्या स्पृहा रघुपते** ...’ का ही उल्लेख है।[२६] अगले श्लोक में – भक्त-साधकों के लिये अनुकरणीय – श्री हनुमानजी के हृदय के श्रीराम के प्रति अनन्यता तथा इष्टनिष्ठा का भाव दिखाया गया है। भक्त की सभी देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा होती है, पर उसकी अपने इष्टदेव के प्रति विशेष निष्ठा होती है। स्वामी विवेकानन्द अपने ‘भक्तियोग’ ग्रन्थ में कहते हैं, “साधक के लिए आरम्भिक दशा में यह एकनिष्ठा नितान्त आवश्यक है। हनुमानजी के समान उसे भी यह भाव रखना चाहिए – ‘परमात्मा के रूप में लक्ष्मीपति (भगवान विष्णु) और सीतापति (श्रीराम) में कोई भेद नहीं है, तथापि कमल के समान नेत्रोंवाले श्रीराम ही मेरे सर्वस्व है।’ ”[२७]

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि ।।
तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः ।।

संकीर्तन की पुस्तिका इसी श्लोक से आरम्भ होती है। साथ में श्री हनुमानजी का चित्र भी दिया हुआ है। यद्यपि यह श्लोक स्वामीजी द्वारा उद्धृत हुआ है और यह संस्कृत ग्रन्थ ‘हनुमन्नाटक’ से लिया गया है। मद्रास मठ द्वारा प्रकाशित संस्कृत तथा अंग्रेजी संस्करणों में यह श्लोक नहीं है।

बाकी श्लोकों के विवरण तथा भावार्थ इस प्रकार हैं –

स्तवः

‘स्तवः’ शीर्षक के अन्तर्गत प्रथम १४ श्लोक गोस्वामी तुलसीदास कृत राम-चरित-मानस से लिये गये हैं। इनमें से पहले ६ श्लोक बालकाण्ड के हैं –

वर्णानामर्थ-सङ्घानां रसानां छन्दसामपि ।।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ ।।१।।

– अक्षरों, उनके अर्थों, रसों तथा छन्दों की सृष्टि करनेवाली माता सरस्वती और समस्त मंगलों का विधान करनेवाले श्री गणेशजी की मैं वन्दना करता हूँ।।

भवानी-शङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ ।।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।२।।

– जिस श्रद्धा तथा विश्वास के अभाव में सिद्धगण अपने हृदय में स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते, उन्हीं श्रद्धारूपिणी पार्वती और विश्वासरूपी भगवान शंकर की मैं वन्दना करता हूँ।।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ।।३।।

– मैं उन चैतन्यमय सनातन गुरु भगवान शंकर की वन्दना करता हूँ, जिनका आश्रय लेने के कारण ही कुटिल चन्द्रमा भी सर्वत्र पूजित होता है।।

सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारिणौ ।।
वन्दे विशुद्ध-विज्ञानौ कवीश्वर-कपीश्वरौ ।। ४ ।।

– मैं विशुद्ध तत्त्वज्ञान से सम्पन्न कविश्रेष्ठ श्री वाल्मीकि और कपिश्रेष्ठ हनुमानजी की वन्दना करता हूँ, जो निरन्तर श्री सीताराम के गुणोंरूपी पवित्र वन में विहार किया करते हैं।।

उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणीं क्लेश-हारिणीम् ।।
सर्व-श्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं राम-वल्लभाम् ।।५।।

– मैं श्रीरामचन्द्र की प्रियतमा श्री सीताजी को प्रणाम करता हूँ, जो सृष्टि, पालन तथा प्रलय करनेवाली, (त्रिविध) क्लेशों को हरण करनेवाली और हर तरह से कल्याण करनेवाली हैं।।

यन्माया-वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि-देवासुराः ।।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ।।
वन्देऽहं तमशेष-कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।।६।।

– ब्रह्मा आदि देवों तथा असुरों सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिनकी माया के वशीभूत हैं; रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति, यह सारा दृश्य जगत् (मिथ्या होकर भी), जिनकी सत्ता से सत्य प्रतीत

---

२५. स्वामी तुरीयानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), चेतनानन्द, पृ. २६१; Swami Brahmananda as we saw him, Ed. 2010, p. 193

२६. प्रेमानन्द, स्वामी ओंकारेश्वरानन्द, भाग १, देवघर, पृ. ४२-४४

२७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३६-३७

होता है और भवसागर से तरने की आकांक्षियों के लिए जिनके चरण ही एकमात्र नौका हैं; समस्त कारणों के परे (सर्वश्रेष्ठ) उन 'राम' नामवाले श्रीहरि की मैं वन्दना करता हूँ ॥

अगले दो श्लोक 'मानस' के 'अयोध्याकाण्ड' के श्लोक संख्या २ तथा ३ हैं –

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्लौ वनवास-दु:खतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुल-मङ्गलप्रदा ।।७।।

– जिनके मुखमण्डल पर, न तो राज्याभिषेक की घोषणा पर प्रसन्नता के चिह्न दृष्टिगोचर हुए; और न ही वनवास की आज्ञा पाकर दु:ख के लक्षण प्रकट हुए, उन रघुकुल-नन्दन श्रीराम के मुखारविन्द का सौन्दर्य मेरे लिये सर्वदा मंगलमय हो ॥

नीलाम्बुज-श्यामल-कोमलाङ्गं
सीता-समारोपित-वामभागम् ।
पाणौ महासायक-चारु-चापं
नमामि रामं रघुवंश-नाथम् ।।८।।

– जिनके कोमल अंग नीलकमल के समान साँवले हैं, जिनके बाँयी ओर श्रीसीताजी विराजमान हैं और जिन्होंने अपने हाथों में महा बाण तथा सुन्दर धनुष धारण कर रखा है, उन रघुवंश-शिरोमणि श्रीराम को मैं नमन करता हूँ॥

नवाँ तथा दसवाँ 'मानस' के 'अरण्यकाण्ड' के प्रथम दो श्लोक हैं –

मूलं धर्मतरोर्विवेक-जलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं ।।
वैराग्याम्बुज-भास्करं त्वघहरं ध्वान्तापहं तापहम् ।।
मोहाम्भोधर-पुञ्ज-पाटन-विधौ खे-सम्भवं शङ्करं ।।
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्क-शमनं श्रीराम-भूपप्रियम् ।।९।।

– जो धर्मरूपी वृक्ष की जड़ हैं, जो विवेकरूपी समुद्र में आनन्द का ज्वार उठानेवाले पूर्ण चन्द्र हैं, जो पापों-तापों रूपी अन्धकार का नाश करके वैराग्यरूपी कमल को खिलाने वाले सूर्य हैं, जो मोहरूपी बादलों के समूह का शमन करके उन्हें छिन्न-भिन्न करने में आकाश-जात वायु-स्वरूप हैं, जो ब्राह्मणकुल के कलंक (रावण) का दमन करनेवाले हैं, मैं अपने प्रिय उन राजा राम की वन्दना करता हूँ ॥

सान्द्रानन्द-पयोद-सौभग-तनुं पीताम्बरं सुन्दरं ।।
पाणौ बाण-शरासनं कटि-लसत्-तूणीरभारं वरम् ।।
राजीवायत-लोचनं धृत-जटाजूटेन संशोभितं ।।
सीता-लक्ष्मण-संयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ।।१०।।

– मैं श्री सीताजी और लक्ष्मणजी सहित मार्ग में चलते हुए उन अत्यन्त शोभायमान श्रीराम का ध्यान करता हूँ, जिनका शरीर जलकणों से युक्त सघन (श्याम-वर्ण) मेघों के समान सुन्दर तथा पीताम्बर से आवृत्त है, जिनके हाथों में बाण और धनुष हैं, जिनकी कमर से सुन्दर तरकश लटक रहा है, जिनके नेत्र कमल-पत्रों के समान विशाल हैं और जिनका मस्तक जटाजूट से सुशोभित हो रहा है ॥

अगले दो श्लोक 'मानस' के 'किष्किंधा-काण्ड' के प्रथम दोनों श्लोक हैं –

कुन्देन्दीवर-सुन्दरावतिबलौ विज्ञान-धामावुभौ ।।
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गो-विप्रवृन्द-प्रियौ ।।
माया-मानुष-रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हि तौ ।।
सीतान्वेषण-तत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः।।११।

– श्री सीताजी की खोज करते हुए मार्ग में जा रहे कुन्दपुष्प के समान गौरवर्ण श्रीलक्ष्मण और नीलकमल के समान वर्णवाले सुन्दर श्रीराम हमें भक्ति प्रदान करें; जो बल तथा विशुद्ध ज्ञान के आगार हैं, अपूर्व लावण्य से मण्डित हैं, कुशल धनुर्धर हैं, वेदों द्वारा वन्दित हैं और सन्तों तथा पशुओं के प्रेमी हैं; जो माया की शक्ति से नररूप धारण किये हुए हैं, श्रेष्ठ रघुवंशी हैं, सच्चे धर्म के कवच-रूप रक्षक और सबके हितकारी हैं ॥

ब्रह्माम्भोधि-समुद्भवं कलिमल-प्रध्वंसनं चाव्ययं ।।
श्रीमच्छम्भु-मुखेन्दु-सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।।
संसारामय-भेषजं सुमधुरं श्रीजानकी-जीवनं ।।
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीराम-नामामृतम् ।।१२

– धन्य हैं वे पुण्यवान लोग, जो निरन्तर उस सुमधुर श्रीरामनाम-रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, (वह नाम) जो वेदरूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुआ, जो कलियुग के दोषों का ध्वंश करनेवाला है, जो अविनाशी है, जो भगवान शिव के सुन्दर मुखचन्द्र में सदैव (उच्चरित होता हुआ) विराजित रहता है, जो संसार में (आवागमन-रूपी) रोग की औषधि है और जो श्री जानकीजी के जीवन का आधार है ॥

अगला सुन्दर-काण्ड का पहला श्लोक है –

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण-शान्तिप्रदं ।।
ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्र-सेव्यमनिशं वेदान्त-वेद्यं विभुम् ।।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुर-गुरुं माया-मनुष्यं हरिं ।।
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपाल-चूडामणिम् ।।१३।।

– मैं उन करुणामय, राजाओं के शिरोमणि, रामनाम धारण करनेवाले श्रीरघुनाथ की वन्दना करता हूँ; जो शान्त-स्वभाव, सनातन, अतुल्य, निष्पाप और मुक्ति एवं शान्ति के प्रदायक हैं; जो ब्रह्मा, शिव तथा शेषजी द्वारा निरन्तर सेवित हैं, जो वेदान्त द्वारा जानने योग्य सर्वव्यापी ब्रह्म हैं, जो जगत् के स्वामी हैं, देवताओं के भी देवता हैं, अपनी माया से नररूप में दिखने वाले श्रीहरि हैं ।।१३।।

'मानस' के उत्तर-काण्ड का पहला श्लोक –
केकी-कण्ठाभ-नीलं सुरवर-विलसद्-विप्र-पादाब्ज-चिह्नम् ।
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिज-नयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।।
पाणौ नाराचचापं कपि-निकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं ।।
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढ-रामम् ।।१४।।

– जिनके शरीर का रंग मोर के कण्ठ की आभा के समान नीला है, जो देवताओं में श्रेष्ठ हैं, जिनके वक्षस्थल पर महर्षि भृगु के पादपद्म का चिह्न अंकित है; जो शोभा के आगार हैं, पीले वस्त्र धारण किये हुए हैं, कमल जैसे नेत्रों वाले हैं, सर्वदा अति प्रसन्न दिखते हैं; जिनके हाथों में धनुष-बाण है, जो वानरों से घिरे हुए हैं, अपने भाई लक्ष्मण द्वारा सेवित हैं और जो स्तुति करने योग्य हैं; उन पुष्पक विमान में विराजित जानकीनाथ, रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीराम को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ ।।

अज्ञात (२ श्लोक) –
आर्तानामार्तिहन्तारं भीतानां भयनाशनम् ।।
द्विषतां कालदण्डं तं रामचन्द्रं नमाम्यहम् ।।१५।।

– मैं उन श्रीरामचन्द्र को प्रणाम करता हूँ, जो आर्तजनों के दु:ख का निवारण करते हैं, जो भयभीत लोगों को अभय प्रदान करते हैं और जो शत्रुओं के लिये कालदण्ड के समान है ।।

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ।।१६।।

– मैं उन श्रीराम को नमन करता हूँ, जो महाराजा दशरथ के पुत्र हैं, अतुल्य हैं, सीताजी के पति हैं, रघुवंशियों में रत्नदीप के समान हैं, जिनकी भुजाएँ जाँघों तक लम्बी हैं, जो कमल-दल के समान सुन्दर नेत्रोंवाले और राक्षसों के नाशक हैं ।।

अन्तिम श्लोक वाल्मीकि-रामायण पाठविधि से –
वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे ।।
मध्ये-पुष्पकमासने मणिमये वीरासने संस्थितम् ।।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनीन्द्रैः परं ।
व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ।१७

– मैं श्याम वर्णवाले श्रीराम की वन्दना करता हूँ, जो कल्पवृक्ष के नीचे स्वर्ण-निर्मित विशाल मण्डप में स्थित रत्नों से खचित तथा पुष्पों से सुसज्जित सिंहासन पर श्रीभरत आदि से घिरे हुए वैदेही श्रीसीताजी के साथ विराजमान हैं। सामने बैठे हुए पवनपुत्र हनुमानजी के प्रश्न के उत्तर में महा-मुनिगण परम तत्त्व की व्याख्या कर रहे हैं ।।

प्रार्थना

प्रार्थना का यह एकमात्र श्लोक 'राम-चरित-मानस' के 'सुन्दर-काण्ड' का दूसरा श्लोक है –

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादि-दोषरहितं कुरु मानसं च ।।

– हे रघुनाथजी ! मैं सत्य कहता हूँ; और आप तो सबकी अन्तरात्मा हैं, (अत: सब जानते ही हैं) कि मेरे हृदय में दूसरी कोई भी इच्छा नहीं है । हे रघुनायक ! आप मुझे अपनी निर्भरा भक्ति प्रदान कीजिये और मेरे मन को काम आदि दोषों से मुक्त कर दीजिये ।।

श्रीराम-प्रणामः

रामनाम-संकीर्तन के अन्त में आनेवाले ९ श्लोकों में से – पहला श्लोक बुधकौशिक मुनि रचित 'राम-रक्षा-स्तोत्रम्' का ३५ वाँ श्लोक है –

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ।।१।।

– जो समस्त आपदाओं का हरण करनेवाले हैं और समस्त सम्पदाओं को प्रदान करनेवाले हैं, उन लोक-रमणीय भगवान श्रीराम को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।

दूसरा श्लोक बुधकौशिक मुनि रचित 'राम-रक्षा-स्तोत्रम्' का २७ वाँ श्लोक है –

रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय वेधसे ।।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ।।२।।

– श्रीराम को, श्रीरामचन्द्र को, श्रीरामभद्र को, विश्व-विधाता को, रघुनाथ को, मेरे नाथ – सीतापति को मेरा प्रणाम है ।।

श्रीहनुमत्-प्रणामः

'मानस' के सुन्दरकाण्ड का तृतीय श्लोक –

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ।।१।।

– मैं श्री रघुनाथजी के प्रिय भक्त पवनपुत्र हनुमानजी को प्रणाम करता हूँ, जो अतुल बल के आगार हैं, (स्वर्णनिर्मित) सुमेरु पर्वत के समान आभा से युक्त शरीरवाले हैं, जो दैत्यों-रूपी वन के के लिए अग्नि के समान हैं, जो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, जो समस्त गुणों के निधान और वानरों के स्वामी हैं ।।१।।

श्लोक संख्या २ से ७ तक 'वाल्मीकि-रामायण पाठविधि' (गीताप्रेस) से (पृ. ३) से –

गोष्पदीकृत-वारीशं मशकीकृत-राक्षसम् ।।
रामायण-महामाला-रत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ।।२।।

– रामायण रूपी महामाला के विशिष्ट रत्न – पवनपुत्र श्री हनुमान की मैं वन्दना करता हूँ, जिन्होंने समुद्र को गोखुर से बने गड्ढे में एकत्र जल के समान समझा और राक्षसों के साथ मच्छरों-जैसा व्यवहार किया ।।

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ।।३।।

– मैं उन वीर कपिश्रेष्ठ की वन्दना करता हूँ, जो माता अंजना को आनन्द देनेवाले हैं, जानकीजी का शोक नाश करनेवाले हैं, (रावण-तनय) अक्षकुमार का हनन करनेवाले हैं और लंका-वासियों में आतंक की सृष्टि करनेवाले हैं ।।

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ।।४।।

– जिन्होंने लीला मात्र से ही समुद्र को लाँघ जाने के बाद, जनक-नन्दिनी श्रीसीताजी की शोकाग्नि को लेकर उसी के द्वारा लंका को जला दिया, मैं अपने हाथ जोड़कर उन आंजनेय को प्रणाम करता हूँ ।।

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ।।५।।

– जो मन के समान द्रुतगामी तथा वायु के समान वेगवान हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जो बुद्धिमानों में अग्रगण्य हैं, जो पवन के पुत्र हैं, जो वानरी सेना के श्रेष्ठ योद्धा हैं, उन श्रीरामदूत को मैं नतमस्तक हो प्रणाम करता हूँ ।।

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रि-कमनीय-विग्रहम् ।।
पारिजात-तरुमूल-वासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ।।६।।

– जिनका शरीर स्वर्णगिरि के समान सुन्दर है, जिनका मुख गहरे लाल रंग का है, जो पारिजात-वृक्ष के नीचे निवास करते हैं, उन अंजनासुत पवननन्दन का मैं ध्यान करता हूँ ।।

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ।।७ ।।

– जिन-जिन स्थानों पर श्रीरघुनाथजी का संकीर्तन होता है, वहाँ -वहाँ हाथ जोड़े, आँखों में आँसू भरे जो विराजमान रहते हैं, उन राक्षसों के विनाशक मारुति को हम प्रणाम करते हैं ।

श्लोकों के विषय में निष्कर्ष

इस प्रकार 'नाम-रामायणम्' अर्थात् 'राम-नाम-संकीर्तनम्' के आदि तथा अन्त में युक्त कुल २८ श्लोकों में से – प्रारम्भिक श्लोक, स्तव: तथा प्रार्थना के १९ श्लोकों में तुलसीदास कृत 'रामचरित-मानस' के विभिन्न काण्डों से १५ श्लोक लिये गये हैं, १ श्लोक 'वाल्मीकि-रामायण' की 'नवाह्न-पारायण-पाठविधि'* में मिलता है, बाकी तीन श्लोकों के स्रोत 'अज्ञात' हैं। अन्त में 'श्रीराम-प्रणामः' तथा 'श्रीहनुमत्-प्रणामः' ९ श्लोकों में से २ श्लोक बुध-कौशिक मुनि द्वारा रचित 'रामरक्षा-स्तोत्रम्' के हैं, १ श्लोक 'रामचरित-मानस' का है और बाकी ६ श्लोक 'वाल्मीकि-रामायण' की 'नवाह्न-पारायण-पाठविधि' में प्राप्त हैं। इस प्रकार कुल २६ श्लोकों के सन्दर्भ प्राप्त हुए और निम्नलिखित ३ के सन्दर्भ अब तक नहीं मिल सके हैं – (१) श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि। (२) आर्तानामार्ति-हन्तारं भीतानां भय-नाशनम्। (३) श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयम्।

प्रार्थना या भजनम्

भयहर मङ्गल-दशरथ राम ।। जय जय मङ्गल सीता राम ।।

– हे भयनाशक, है दशरथ का मंगल करनेवाले राम ! हे मंगलमय श्री सीताराम आपकी जय हो !!

मङ्गलकर जय मङ्गल राम ।। सङ्गत-शुभ-विभवोदय राम।।

– हे मंगलकारी मंगलमूर्ति राम, आपकी जय हो ! हे राम, सारे शुभ तथा वैभव आपसे उत्पन्न और आपसे ही जुड़े हुए हैं !!

आनन्दामृत-वर्षक राम।। आश्रित-वत्सल जय जय राम ।।

– हे आनन्द की वर्षा करनेवाले राम ! हे शरणागतों के प्रेमी श्रीराम आपकी जय हो, जय हो !!

रघुपति राघव राजा-राम ।। पतितपावन सीता-राम ।।

– हे रघुपति, हे राघव, हे राजा राम, हे पतित-पावन, हे सीताराम, आपकी जय हो !!

स्तवः

कनकाम्बर कमलासन-जनकाखिल धाम ।।

– हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्रष्टा तथा आश्रय श्रीराम, तुम सुनहरे वस्त्र धारण किये, कमल के आसन पर विराजमान हो !!

सनकादिक-मुनि-मानस-सदनानघ भूम ।।

– हे भूमा अर्थात् विराट् स्वरूप वाले श्रीराम, सनक आदि मुनियों का पवित्र हृदय ही तुम्हारा निवास है !!

शरणागत-सुरनायक-चिरकामित काम ।।

– हे श्रीराम, तुम शरण में आये हुए देवनायक इन्द्र के चिर वांछित वस्तु हो !!

धरणी-तल-तरण दशरथ-नन्दन राम ।।

– हे राम, तुमने महाराजा दशरथ के पुत्ररूप में धरणी-तल पर अवतरण किया है !!

पिशिताशन-वनिता-वध-जगदानन्द राम ।।

– नरमांस खानेवाली ताड़का का वध करके सम्पूर्ण जगत् को आनन्द प्रदान करनेवाले हे श्रीराम !!

कुशिकात्मज-मख-रक्षण चरितादभुत राम ।।

– (बचपन में ही) कुशिकापुत्र (विश्वामित्र) के यज्ञ की रक्षा करके अद्भुत लीला दिखानेवाले हे श्रीराम !!

धनि-गौतमगृहिणी-स्वजदघ-मोचन राम ।।

– गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को पापों से मुक्त करके उसका जीवन धन्य करनेवाले हे श्रीराम !!

मुनि-मण्डल-बहुमानित पदपावन राम ।।

– हे राम, ऋषि-मुनियों द्वारा अत्यन्त समादृत तुम्हारे चरण सबको पवित्र करनेवाले हैं !!

स्मर-शासन-सुशरासन-लघु-भञ्जन राम ।।

– हे राम, तुमने कामदेव को दण्डित करनेवाले भगवान शिव के महान् धनुष को सहज ही तोड़ डाला !!

नर-निर्जर-जन-रञ्जन सीतापति राम ।।

– हे सीतापति राम, तुम मनुष्यों तथा देवताओं को समान रूप से आनन्द प्रदान करनेवाले हो !!

कुसुमायुध-तनु-सुन्दर कमलानन राम ।।

– हे कमल के समान मुख-मण्डल वाले श्रीराम, तुम्हारा शरीर कामदेव के समान परम सुन्दर है !!

वसुमानित-भृगुसम्भव-मद-मर्दन राम ।।

– हे राम, तुमने वसु (भीष्म) द्वारा (गुरुरूप में) सम्मानित हुए भृगुनन्दन परशुराम के अहंकार को दूर किया !!

करुणा-रस-वरुणालय नत-वत्सल राम ।।

– हे राम, तुम करुणा-रस के समुद्र और अपनी शरण में आये हुए लोगों के प्रति स्नेहपरायण हो !!

शरणं तव चरणं भवहरणं मम राम ।।

– हे (आवागमन-रूपी) संसार का नाश करनेवाले मेरे राम, मैं तुम्हारे चरणों की शरण लेता हूँ !!

'भजनम्' (प्रार्थना) तथा 'स्तव:' का संयोजन

अब प्रश्न रह जाता है कि 'प्रार्थना' (भयहर मंगल दशरथ राम) और 'स्तव:' (कनकाम्बर कमलासन...) का कब संयोजन किया गया। प्रभानन्दजी कहते हैं, "१९२१ ई. में महाराज के दक्षिण-भ्रमण के समय... इसमें 'भयहर मंगल दशरथ राम' स्तोत्र जुड़ने पर इसने वर्तमान रूप धारण किया।"[२८]

आठ पंक्तियों के इस भजन या कीर्तन की अन्तिम दो पंक्तियाँ काफी लोकप्रिय हैं – "रघुपति राघव राजाराम; पतित -पावन सीताराम" – यह पंक्ति तथा इसके साथ की दूसरी पंक्ति "ईश्वर-अल्ला तेरो नाम, सबको सन्मति दे भगवान" – विशेषकर महात्मा गांधी द्वारा अपनी प्रार्थना सभाओं में अपनाये जाने के बाद से पूरे देश में सर्वत्र गाया जाने लगा है।

बहुकाल से प्रचलित 'रघुपति राघव राजा राम' भजन कब और किसने लिखी, यह तो ज्ञात नहीं, पर इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय प्रसिद्ध संगीतज्ञ पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को जाता है। उनकी जीवनी में बताया गया है – "१९१६ ई. के वर्षाकाल में 'चातुर्मास' के दौरान उन्होंने बम्बई के माधव बाग में तुलसीकृत 'रामायण' पर प्रवचन आरम्भ किया। इसके पहले से ही उन्होंने उक्त रामायण के अनेक चौपाइयों, दोहों, छन्दों आदि को शास्त्रीय सुरों में गायन योग्य बनाया था। इनका उपयोग उन्होंने अपने पहले प्रवचन में किया। 'रघुपति राघव राजा राम' की धुन को उन्होंने अपने प्रवचनों द्वारा लोकप्रिय बनाया था।"[२९] और 'स्तव:' के बारे में तुरीयानन्दजी बताते हैं, "जब विष्णु दिगम्बर **'कनकाम्बर'** गाते थे, तो सभी मुग्ध हो जाते थे। अहा, क्या भाव था उनका ! वे इसे यमन-कल्याण राग में गाया करते थे।"[३०]

इसका ध्वनि-अंकन

इस सम्पूर्ण 'रामनाम-संकीर्तन' का ध्वनि-मुद्रण पहले मद्रास के रामकृष्ण मठ द्वारा किया गया था, बाद में बेलूड़ मठ के रामकृष्ण मिशन सारदापीठ द्वारा उसे पहले आडियो कैसेट और बाद में कम्पैक्ट डिस्क (सी. डी) के रूप में प्रस्तुत किया गया। जो रामकृष्ण संघ के केन्द्रों में प्राप्त है।

दक्षिण की सुप्रसिद्ध गायिका भारतरत्न सुश्री एम. एस. शुभलक्ष्मी की वाणी में इस संकीर्तन का एक अन्य ध्वनि-मुद्रण भी बालाजी पंचरत्न सिरीज में 'राम-नामावली' शीर्षक के साथ हुआ है, जो इंटरनेट पर भी उपलब्ध है।

❖ (क्रमश:) ❖

२८. स्वामी ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, पृ. २८३

२९. पण्डित विष्णु दिगम्बर, वी. रा. आठवले, नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली, १९६७, पृ. ३९, ४७ (पृ. ३३ भी द्रष्टव्य)

३०. स्वामी तुरीयानन्देर स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी चेतनानन्द, पृ.२६१; Swami Brahmananda as we saw him, Ed. Swami Atmashraddhananda, Year 2010, p. 193

स्वामी कल्याणानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

मानवता के कल्याण में पूरी तौर से समर्पित स्वामी कल्याणानन्द की जीवन सेवाव्रती मनुष्यों के लिये सर्वदा प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा। स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित नारायण-ज्ञान से नरसेवा के महान् आदर्श को जिन लोगों ने अपने श्वास-प्रश्वास के समान अपनाया और उसी की साधना तथा सिद्धि के लिये अपना सम्पूर्ण जीवनन होम कर दिया, उन्हीं प्रात:स्मरणीय महापुरुषों में स्वामीजी के प्रिय शिष्य कल्याणानन्दजी भी एक हैं। सेवाधर्म के इतिहास में उनका नाम चिरकाल तक उज्वल बना रहेगा।

स्वामी कल्याणानन्द का पूर्वनाम था दक्षिणारंजन गुहा। उनका जन्म १८७४ ई. में बारीशाल जिले के वजीरपुर के निकट हनुआ ग्राम के एक अभिजात परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम था उमेशचन्द्र गुहा। दक्षिणारंजन अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान थे, परन्तु अत्यन्त शैशव काल में ही वे अपने पिता को खो बैठे। धर्मप्राण माता के स्नेहपूर्ण लालन-पालन के बावजूद, उन्होंने उसे लाड़-प्यार से बिगड़ा हुआ पुत्र नहीं, अपितु धर्मपथ पर चलने के उपयुक्त मानसिक शक्ति से युक्त एक शक्तिमान बालक बना दिया था। विधवा माता की आँखों के तारे होने के बावजूद बालक के मन में भगवत्-भक्ति तथा जगत्-विरक्ति का बीज बचपन से ही अंकुरित हो रहा था। दक्षिणारंजन के ताऊ ही घर में उनके अभिभावक थे और वे ही उनकी पढ़ाई-लिखाई की निगरानी किया करते थे। उन्होंने बानरीपाड़ा के उच्च विद्यालय में मैट्रिक कक्षा तक अध्ययन किया, परन्तु सांसारिक अभाव तथा किशोरावस्था से ही सांसारिक वस्तुओं के प्रति उदासीनता ने अध्ययन में उनकी प्रगति में विघ्न उत्पन्न किया। विद्यालय के पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा संकलित 'श्रीरामकृष्ण उपदेश' आदि धर्मग्रन्थों के पठन में उनका अधिक मन लगता था।

उन दिनों पूरे देश का वायुमण्डल स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त-प्रचार की बातों तथा उनकी अग्निगर्भ व्याख्यानों से परिपूर्ण था – विभिन्न समाचार-पत्रों में वे ही सब बातें प्रकाशित हुआ करती थीं। प्रत्येक आदर्शवादी युवक स्वामीजी के विचारों के प्रति आकर्षण का बोध कर रहा था। विचारों का यह बाढ़ बंगाल के गाँवों के तरुणों के चित्त में भी हलचल पैदा कर रहा था। और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस विवेक-तरंग ने आकर आदर्श-चरित्र युवक दक्षिणारंजन के मनरूपी तट का भी स्पर्श किया। बचपन से ही उनमें सेवा के प्रबल संस्कार थे। दूसरों के लिये परिश्रम करना उन्हें बड़ा अच्छा लगता था। दूसरों की आपत्ति-विपत्ति तथा दु:ख-कष्ट में सहानुभूति का अनुभव करना और उनकी सहायता करना उनका एक प्रिय अभ्यास था। इस सहजात सेवाभाव के प्रस्फुटन के लिये उनका मन मानो एक मार्ग की तलाश कर रहा था। उन्हें सूचना मिली की स्वामीजी द्वारा स्थापित मठ में एक विशिष्ट योग या आत्मज्ञान की प्राप्ति के उपाय के रूप में सेवा की साधना की जाती है। दक्षिणारंजन के उक्त आदर्श के प्रति अनुराग तथा संसार के प्रति वैराग्य ने मानो आह्वान करके उन्हें अपने घर के संकीर्ण दायरे से निकालकर बाहर के विराट् विश्व में ला खड़ा किया। १८९८ ई. में वे आकर मठ में सम्मिलित हो गये। मठ उन दिनों बेलूड़ के नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में स्थित था।

इतने दिनों बाद अब मठ में आकर दक्षिणारंजन के हृदय में निहित भक्ति तथा सेवाभाव को विकसित होने का सुयोग मिला। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आकर उन्हें जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति के उपायों को ढूँढ़ निकालने में अधिक समय नहीं लगा। स्वामीजी स्वयं भी उन दिनों मठ में ही निवास कर रहे थे, इसलिये दक्षिणारंजन के आनन्द की सीमा न रही। जिनके विषय में उन्होंने केवल कानों से सुना था और संवाद-पत्रों में पढ़ा था, जिनकी प्रत्येक उक्ति की शक्ति के द्वारा उन्होंने कितनी प्रेरणा का बोध किया था, अब उनके प्रत्यक्ष सान्निध्य से वैराग्यवान दक्षिणारंजन के मनोजगत् में कैसी हलचल मच रही थी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ग्राम्य परिवेश से आये हुए इस सरल युवक की निष्ठा जाँचने के लिये एक दिन स्वामीजी विनोद करते हुए उनसे बोले, "अच्छा, मान लो मुझे कुछ रुपयों की जरूरत पड़ी और मैं तुम्हें किसी चाय-बागान में एक कुली के रूप में बेच डालूँ, तो तुम इसके लिये राजी हो न?" दक्षिणारंजन ने तत्काल बिना किसी द्विधा के सहर्ष अपनी सहमति दे दी। इन गुरु-गतप्राण शिष्य के जीवन का यदि सम्पूर्ण रूप से मूल्यांकन किया जाय, तो यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि चाय-बागान के कुली के रूप में तो नहीं बेचा, पर स्वामीजी ने अपने इस निष्ठावान शिष्य को

विराट् मानवता की सेवा में समर्पित कर दिया था। दक्षिणा-रंजन ने १८९८ ई. में किसी समय स्वामीजी के चरणों में आश्रय प्राप्त किया था। संन्यास की दीक्षा देते समय स्वामीजी ने अपने नवीन शिष्य को 'कल्याणानन्द' नाम प्रदान किया। दक्षिणारंजन के साथ ही स्वामीजी ने अपने एक अन्य सुयोग्य शिष्य को 'आत्मानन्द' नाम प्रदान किया था, जो रामकृष्ण संघ में शुकुल महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सेवा का जरा-सा भी सुयोग पाकर कल्याणानन्द अपने को परम कृतार्थ मानते। मठ में निवास के दौरान वे साधन-भजन तथा गुरुसेवा के साथ-ही-साथ अनेक प्रकार के सेवाकार्यों में भी लगे रहते थे। बेलूड़ गाँव के दीन-दुखी तथा पीड़ितों की सेवा के लिये उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ अनेक कष्टों का वरण किया था। स्वामी योगानन्द जब कलकत्ते में अपनी अन्तिम रोगशय्या पर पड़े कष्ट पा रहे थे, तब लगभग एक माह तक कल्याणानन्द को इन महापुरुष की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी सेवा इतनी आन्तरिक होती कि योगानन्दजी के एक इशारे या आँखों के एक संकेत मात्र से ही वे उनकी बात समझ जाते। इस सेवानिष्ठा के फलस्वरूप वे शीघ्र ही अपने गुरुदेव तथा अन्य संन्यासियों की स्नेहदृष्टि आकृष्ट करने में समर्थ हुए थे।

१८९९ ई. के जून में स्वामीजी ने दूसरी बार पाश्चात्य देशों की यात्रा की। इसके करीब एक माह बाद (जुलाई में) स्वामी कल्याणानन्द तीर्थ-दर्शन तथा तपस्या आदि करने को बाहर निकले। इस भ्रमण के दौरान उन्होंने वाराणसी में केदारनाथ भौमिक नामक एक आदर्शनिष्ठ तरुण के घर पर आतिथ्य ग्रहण किया था। बेलूड़ मठ से ही गुरुभ्राता स्वामी शुद्धानन्द ने केदारनाथ को कल्याणानन्द के विषय में एक पत्र लिख दिया था। यह पत्र ही केदारनाथ के साथ उनके आत्मीयता-स्थापन का प्रथम सूत्र सिद्ध हुआ। दोनों के बीच का सम्पर्क इतना घनिष्ठ हो गया था कि परवर्ती काल में दोनों एक ही पथ के यात्री के रूप में स्मरणीय हुए। कल्याणानन्द के साहचर्य के फलस्वरूप केदारनाथ तथा उनके चारुचन्द्र दास आदि युवा मित्रों के मन में स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित सेवाधर्म के बारे में विशेष अनुराग का संचार हुआ। स्वामीजी के इन सेवानिष्ठ शिष्य के सम्पर्क में आकर उन लोगों ने भलीभाँति समझ लिया कि सेवा के माध्यम से ही ज्ञान, कर्म, योग तथा भक्ति का समन्वय करना सम्भव है और इस समन्वित योग की साधना ही युगधर्म है। उन दिनों स्वामीजी के भावों से अनुप्राणित होनेवाली युवकों की यह टोली ही वाराणसी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम की संस्थापक है और युवक केदारनाथ तथा चारुचन्द्र ही आगे चलकर रामकृष्ण संघ में स्वामी अचलानन्द (केदार बाबा) और स्वामी शुभानन्द के नाम से सुविख्यात हुए।

कल्याणानन्द वाराणसी से इलाहाबाद गये और वहाँ भी उन्होंने विविध प्रकार के सेवाकार्यों में यथाशक्ति सहयोग किया। उन्होंने अथक परिश्रम करके 'इलाहाबाद अनाथाश्रम' नामक एक स्थानीय संस्था के संचालकों तथा कर्मियों को स्वामीजी के भावों में अनुप्राणित करके उनके सेवा-अनुष्ठान को हर तरह की सार्थकता से युक्त करने का प्रयास किया था। कल्याणानन्द इसी प्रकार यात्रा करते हुए जयपुर पहुँचे। जयपुर रेलवे स्टेशन पर अप्रत्याशित रूप से उनकी अपने एक गुरुभाई स्वामी स्वरूपानन्द से भेंट हो गई। इससे दोनों ही अतीव आनन्दित हुए। स्वरूपानन्द भी तीर्थाटन हेतु ही निकले थे, परन्तु एक दुखद समाचार ने उन्हें अपनी आगे की सारी योजना स्थगित करने को बाध्य कर दिया। किशनगढ़ राज्य में उस समय भयंकर अकाल पड़ा हुआ था। राजपुताना की धरती और आकाश भूखे लोगों के क्रन्दन से निनादित हो रहे थे। दोनों गुरुभाइयों को तीर्थ-यात्रा की अपेक्षा अकाल-पीड़ित नारायणों की सेवा में जुटना ही अधिक उचित लगा। वे लोग तुरन्त किशनगढ़ जा पहुँचे और सेवाकार्य शुरू कर दिया। स्थानीय उदार लोगों की सहायता से कल्याणानन्द तथा स्वरूपानन्द ने अद्भुत कार्य सम्पन्न किया और संकटग्रस्त लोगों की पीड़ा को कम करने में यथेष्ट सफलता पाई। भिक्षा में प्राप्त धन तथा वस्तुओं के द्वारा वे प्रतिदिन लगभग तीन सौ लोगों के भोजन की व्यवस्था करते। उनकी चेष्टा से एक अस्थायी अनाथाश्रम भी स्थापित हुआ था।

कुछ दिनों बाद स्वरूपानन्द के मायावती चले जाने पर कल्याणानन्द ने अकेले ही किशनगढ़ का सारा कार्य चलाया था। दिन-रात कठोर परिश्रम के फलस्वरूप उनके बीमार पड़ जाने पर स्वामी आत्मानन्द तथा निर्मलानन्द आकर उनकी सहायता करने लगे। किशनगढ़ में अनाथ बालकों के लिये स्थापित यह अस्थायी आश्रम कल्याणानन्द के नेतृत्व में इतने सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था कि स्थानीय जनता उसे स्थायी रूप देने के लिये उनसे खूब अनुरोध करने लगी। वैसे आखिरकार मिशन के लिये वहाँ कोई स्थायी आश्रम चलाना सम्भव नहीं हो सका था। वाराणसी से केदार बाबा (स्वामी अचलानन्द) ने आकर किशनगढ़ के सेवाकार्य में काफी सहायता की थी। यहाँ पर एक बार फिर उनके सान्निध्य में केदारनाथ के आन्तरिक सेवाभाव को और भी अधिक परिपुष्ट होने का सुयोग मिला था। दुर्गापूजा के अवसर पर कल्याणानन्द ने अनाथ बालकों के साथ मिलकर घट-स्थापना करके मातृपूजा सम्पन्न की थी। अकालग्रस्त राजपुताना में यह भी एक नये प्रकार का सेवाकार्य था। १९०० ई. के नवम्बर में प्रकाशित वहाँ की कार्य-विवरणी से ज्ञात होता है कि उस समय उस अनाथाश्रम में ५० बालकों तथा २० बालिकाओं का पालन-पोषण हो रहा था।

अस्तु १९०० ई. के दिसम्बर में स्वामी विवेकानन्द के विदेश से पुन: भारत लौट आने पर सारदानन्दजी ने पत्र लिख कर उन्हें सूचित किया, "इच्छा हो, तो आकर स्वामीजी का दर्शन कर सकते हो।" इसके बाद कल्याणानन्द राजपुताना का कार्य समाप्त कर वृन्दावन चले आये और वहाँ से १९०१ ई. के प्रारम्भ में अपने गुरुदेव के दर्शन की आकांक्षा से बेलूड़ मठ लौट गये।

स्वामीजी के पूत सान्निध्य में कल्याणानन्द का मठ-जीवन बड़े ही उत्साह तथा उद्दीपना के साथ चलने लगा। स्वामीजी ने एक दिन उन्हें सहसा बुलाकर कहा, "देख कल्याण, हरिद्वार-ऋषीकेश अंचल में रुग्ण-अस्वस्थ साधुओं के लिये क्या तू कुछ कर सकता है? उनकी देखभाल करनेवाला कोई भी नहीं है। तू वहाँ जाकर उनकी सेवा में लग जा।" अपने परिव्राजक जीवन में स्वामीजी उत्तराखण्ड में भ्रमण करते समय वृद्ध तथा पीड़ित साधुओं की करुण दशा देखकर बड़े विचलित हुए थे। वहाँ स्वयं भी बीमार होकर उन्हें उससे भी अधिक मर्मस्पर्शी अवस्था का सामना करना पड़ा था। तभी से यह बात उनके हृदय पर अधिकार जमाये हुए थी और आज योग्य शिष्य को निकट पाकर उन्होंने उसे व्यक्त कर दिया था। कल्याणानन्द ने गुरुवाक्य को शिरोधार्य किया और उस आदेश के पालन को ही महान् साधना मानकर वे आनन्दपूर्वक उत्तराखण्ड की ओर चल पड़े। सर्वप्रथम वे अपने गुरुभ्राता स्वरूपानन्द के साथ सलाह-मशवरा करने हेतु मायावती पहुँचे। स्वामीजी की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने के लिये योजना का प्रारूप क्या हो – दोनों गुरुभाइयों के बीच काफी चर्चा हुई। स्वरूपानन्द ने इस कठिन कार्य में कल्याणानन्द का हार्दिक समर्थन करते हुए उन्हें खूब उत्साहित किया और इस कार्य को प्रारम्भ करने में स्वयं भी काफी सक्रिय भूमिका निभायी। स्वामीजी के दोनों संन्यासी शिष्यों ने गुरुदेव से प्राप्त इस महान् दायित्व को सिर पर धारण करके धन-संग्रह करने हेतु नैनीताल की यात्रा की। स्वरूपानन्द के समान सुयोग्य सुहृद की सहायता से कल्याणानन्द को शीघ्र ही काफी मनोबल प्राप्त हुआ था और कुछ धन भी एकत्र हुआ।

भारतवर्ष में उत्तराखण्ड ही युग-युग से साधु-संन्यासियों का प्रिय आवास-भूमि रहा है। नगाधिराज हिमालय के भाव-गाम्भीर्य से मण्डित तथा पवित्र भागीरथी गंगा की कलकल ध्वनि से मुखरित उत्तराखण्ड के प्रत्येक तीर्थ के माध्यम से धर्मप्राण भारत आज भी मानो सजीव बना हुआ है। फिर हरिद्वार तथा ऋषीकेश उन तीर्थों के बीच एक विशेष महिमा लेकर, अनन्त पुण्य स्मृतियों के साक्षी-स्वरूप भारत के चित्त में चिर-जागरूक बने हुए हैं। हिमालय के पाद-प्रदेश में ऋषीकेश-हरिद्वार के पथरीले तट पर खड़े होकर प्रवहमान गंगा की गैरिक धारा को देखकर अब भी ऐसा लगता है मानो सनातन वैदिक संस्कृति का भावस्रोत अबाध गति से बहता चला जा रहा है। इसीलिये भारत के साधु-सन्त, संन्यासी-उदासी तथा वैरागी-परिव्राजक दल-के-दल इस तीर्थभूमि में आकर अपना आसन लगाते हैं और गंगाजी के तट पर अपनी कुटिया बनाकर तपस्या आदि में डूब जाते हैं। परन्तु मानवीय आबादी से दूर होने के कारण इस अंचल में चिकित्सा-सेवा की कोई सुविधा न होने के कारण, रुग्ण तथा वृद्ध साधुओं की दुरवस्था की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इसीलिये स्वामीजी अपने करुणार्द्र हृदय से इन नि:सम्बल साधुओं की सेवा के लिये बेचैन हो उठे थे और अब तक वे इसके लिये किसी योग्य शिष्य के आने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। कल्याणानन्द अपने गुरुदेव के आशीर्वाद मात्र को ही सम्बल बनाकर हरिद्वार आ पहुँचे। हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड से गंगाजी के तट पर थोड़े दक्षिण में कनखल नाम का प्राचीन तीर्थस्थल है। पुराणों के मतानुसार यह कनखल ही दक्षयज्ञ का पीठक्षेत्र अर्थात् सती के देहत्याग का स्थान है। कल्याणानन्द ने निर्जन कनखल को ही अपनी सेवा-साधना का स्थान चुना।

हरिद्वार भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। प्राय: पूरे साल ही वहाँ असंख्य साधु-संन्यासियों तथा पुण्यार्थी नर-नारियों की भीड़ लगी ही रहती है। फिर कुम्भ मेले के समय तो यह स्थान लाखों यात्रियों के समागम से मुखरित हो उठता है। हरिद्वार से मात्र पन्द्रह मील उत्तर में सनातन तपोभूमि ऋषीकेश स्थित है। उसके और भी तीन मील उत्तर में लक्ष्मण झूला है – वहाँ से गंगा के उस छोर को पकड़कर क्रमश: केदारनाथ, बदरीनारायण आदि जाने का मार्ग है। असंख्य तीर्थयात्रियों तथा परिव्राजक साधु-संन्यासियों के आवागमन के मार्ग में हरिद्वार तथा उसके निकटस्थ कनखल एक विशेष उल्लेखनीय पड़ाव है, क्योंकि वस्तुत: हरिद्वार ही हिमालय में प्रवेश की पहली सीढ़ी है। उसी का एक भाग – कनखल जन-कोलाहल से दूर होकर भी, जनबहुल तीर्थों के समीप ऐसे शान्त गम्भीर परिवेश में स्थित है और रुग्ण तथा पीड़ितों के लिये एक आदर्श स्थान है। कल्याणानन्द ने इस कनखल में ही अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट अपनी साधना के लिये आसन जमाया। स्वामीजी से प्राप्त उनकी साधना का मंत्र था – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**। कल्याणानन्द ने आजीवन लगातार लगभग ३६ वर्ष इस कनखल में ही उक्त महान् कार्य में आत्मोत्सर्ग किया था।

१९०१ ई. के जून माह में कल्याणानन्द ने कनखल में ३ रुपये मासिक दो कमरे[१] किराये पर लेकर अपना सेवायज्ञ आरम्भ किया। इन दो कमरों में ही बीमार साधुओं के लिये

१. निर्वाणी अखाड़े के 'बारह-कोठरी' भवन की दूसरी मंजिल पर।

बिस्तर, चिकित्सालय तथा अपने निवास आदि सभी चीजों की व्यवस्था थी। इसी बीच उन्होंने होम्योपैथिक दवाओं का एक छोटा बाक्स तथा चिकित्सा के काम आनेवाले कुछ यंत्र भी एकत्र कर लिये थे। वे प्रतिदिन साधु-सन्तों की कुटियों में घूम-घूमकर पीड़ित तथा वृद्ध साधुओं का समाचार लेते और उनकी दवा-पथ्य आदि की भी व्यवस्था कर आते। आवश्यक होने पर वे रोगी साधुओं को अपने चिकित्सालय में ले आते और स्वयं ही उनकी सेवा-सुश्रूषा करते। वे स्वयं ही रोगियों का पथ्य आदि तैयार कर देते, पर अपनी स्वयं की जीवन-यात्रा पूरी तौर से माधुकरी भिक्षा पर ही चलाते। इस प्रकार जो कार्य एक बीज के रूप में शुरू हुआ, वह स्वामीजी के आशीर्वाद से क्रमश: रामकृष्ण मिशन की एक गौरवपूर्ण संस्था – कनखल सेवाश्रम के रूप में विकसित हुआ है।

कल्याणानन्द सर्वदा अपने गुरुदेव के आशीष को स्मरण रखते हुए, भिक्षा में प्राप्त धन-औषधियाँ तथा अन्य वस्तुओं के द्वारा प्रबल उत्साह तथा पूरे मन-प्राण से साधुओं की सेवा में लगे रहे। इन दिनों उनके गुरुभाई लोग भी उनके इस कार्य में हार्दिक सहानुभूति तथा सहायता प्रदान किया करते थे। विमलानन्द बीच-बीच में मायावती से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' में कल्याणानन्द द्वारा स्थापित सेवाश्रम के सहायतार्थ आम जनता के लिये अपील प्रकाशित किया करते थे। विमलानन्द द्वारा लिखित पहली अपील इसके १९०१ ई. के अगस्त अंक में प्रकाशित हुई थी। विचारपूर्ण तथा प्रखर लेखनी से नि:स्रित इन प्रभावी अपीलों ने ही वस्तुत: देश-विदेश के लोगों के साथ सेवाश्रम का प्रथम परिचय करा दिया था।

पुराकाल की छोटी या साधारण घटनाएँ भी वर्तमान में विशेष महत्त्व रखती हैं। पुरा काल की असम्बद्ध तथा छोटी-मोटी घटनाओं के बीच भी एक प्रकार की शृंखला तथा सामंजस्य दीख पड़ता है। वर्तमान कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु वह अतीत की दृढ़ नींव पर स्थापित होता है। अतीत ही भविष्य का नियामक और वही उसकी आशाओं, आकांक्षाओं तथा प्रेरणाओं का बीज है। कनखल का रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम आज भारत का एक विशिष्ट दातव्य अस्पताल है। यदि हम इस सुपरिचालित विशाल संस्था के भूतकाल की दो-एक घटनाओं का स्मरण करें, तो उससे हमारे उपरोक्त कथन का तात्पर्य कुछ हद तक समझा जा सकेगा। आज जहाँ लाखों-करोड़ों रुपये व्यय करके आधुनिक तथा वैज्ञानिक पद्धति से प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों पीड़ितों की सेवा-चिकित्सा का विराट् आयोजन चल रहा है, वहीं पहले एक अकिंचन संन्यासी द्वार-द्वार से भिक्षा माँगकर कैसी अटल निष्ठा के साथ सेवायज्ञ का अनुष्ठान कर गये हैं, वह सचमुच ही इतिहास की एक विस्मयजनक घटना है।

सेवाश्रम के प्रथम रिपोर्ट[२] से उस काल के एक महीने के रोगियों की संख्या तथा आय-व्यय का एक चित्र प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। १९०१ ई. के सितम्बर माह के विवरण से ज्ञात होता है कि उस महीने सेवाश्रम के अन्तर्विभाग (इन्डोर) में ६ साधुओं की चिकित्सा हुई थी और बहिर्विभाग (आउटडोर) के ४८ रोगियों में ३० साधु तथा बाकी निर्धन गृही लोग थे। बहिर्विभाग के ३६ लोग पूर्ण रूप से नीरोग हो गये थे और १० लोग तब भी चिकित्साधीन थे। दो लोगों की चिकित्सा तब भी अपूर्ण थी। सितम्बर माह के आय-व्यय का हिसाब इस प्रकार था –

	रुपये	आना	पाई
पथ्य	१२	१५	१.५ (डेढ़)
दवा	४	१४	४.५
मकान-भाड़ा	३	०	०
आश्रम-व्यय	१	१	०
रोशनी आदि	३	६	६
वेतन/मजदूरी	१	०	६
डाकखर्च	०	६	०
विविध	१	१	१.५
कुल योग	२७	१३	१.५

इसके अतिरिक्त उस महीने में भिक्षा व दान से प्राप्त ढाई मन गेहूँ, २० सेर दाल तथा ३ सेर नमक भी खर्च हुए थे।

उन दिनों स्वामी स्वरूपानन्द प्रबुद्ध-भारत पत्रिका के सम्पादक तथा स्वामी विमलानन्द सह-सम्पादक थे। इन दो गुरुभाइयों की प्रेरणा तथा सहायता ने कल्याणानन्द में विशेष उत्साह भर दिया था। स्वामी विमलानन्द ने कई बार अपनी स्वभावसिद्ध प्रखर लेखनी से कल्याणानन्द की कर्म-पद्धति तथा स्वामी विवेकानन्द के सेवादर्श का यथेष्ट प्रचार किया था। उन दिनों प्रबुद्ध-भारत पत्रिका में प्रति माह कनखल सेवाश्रम की मासिक कार्य-विवरणी प्रकाशित हुआ करती थी। इससे भारत के शिक्षित समुदाय की दृष्टि क्रमश: हिमालय के पाद-देश में स्थित इस छोटे-से सेवा-कुटीर तथा उन नि:सम्बल सेवाव्रती संन्यासी की ओर आकृष्ट हुई।

❖ **(क्रमश:)** ❖

२. प्रबुद्ध-भारत के अक्तूबर, १९०१ अंक में प्रकाशित

कठोपनिषद्-भाष्य (१३)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्य – एतत् श्रुत्वा नचिकेताः पुनराह – यदि अहं योग्यः, प्रसन्नश्च असि भगवन् मां प्रति –

अनुवाद – यह सुनकर नचिकेता पुन: बोला – यदि मैं इस (उपदेश) के योग्य हूँ और आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो –

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा-
दन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च
यत्तत्पश्यसि तद्वद ।। १४ (४३) ।।

अन्वयार्थ – **धर्मात्** शास्त्रविहित अनुष्ठान से **अन्यत्र** भिन्न **अधर्मात्** अधर्म से **अन्यत्र** भिन्न **अस्मात्** इस **कृत-अकृतात्** कार्य तथा कारण से **अन्यत्र** भिन्न **भूतात् च भव्यात् च** अतीत तथा भविष्य से **अन्यत्र** भिन्न, **यत् तत्** जिस तत्त्व को (आप) **पश्यसि** प्रत्यक्ष जानते हैं, **तत्** वह **वद** (मुझे) कहिए।

भावार्थ – (नचिकेता कहते हैं – यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं और मुझे योग्य मानते हैं, तो) शास्त्रविहित धार्मिक अनुष्ठान आदि से भिन्न, अधर्म से भिन्न, इस कार्य तथा कारण से भिन्न, अतीत तथा भविष्य से भिन्न, जिस तत्त्व को (आप) प्रत्यक्ष जानते हैं, वह (मुझसे) कहिए।

भाष्यम् – अन्यत्र धर्मात् शास्त्रीयात् धर्मानुष्ठानात् तत्फलात् तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतम् इत्यर्थः। तथा अन्यत्र अधर्मात् विहित-अकरण-रूपात् पापात् तथा अन्यत्र-अस्मात् कृत-अकृतात्, कृतं कार्यम् अकृतं कारणम् अस्मात् अन्यत्र। किम् च, अन्यत्र भूतात् च अति-क्रान्तात् कालात् भव्यात् च भविष्यतः च तथा अन्यत्र वर्तमानात्। काल-त्रयेण यत् न परिच्छिद्यते इत्यर्थः। यत् ईदृशं वस्तु सर्व-व्यवहार-गोचरातीतं पश्यसि जानासि तत् वद मह्यम् ।।१४।।

भाष्य-अनुवाद – जो धर्म अर्थात् जो शास्त्रीय धर्मानुष्ठान, उसके फल तथा उसके कारकों/उपकरणों से भिन्न है; वैसे ही, जो अधर्म अर्थात् शास्त्र-विहित कर्मों के न करने से जो पाप होता है, उससे भिन्न है; वैसे ही जो कार्य तथा कारण से भिन्न है; इतना ही नहीं, जो भूतकाल, भविष्य काल तथा वर्तमान काल से भी भिन्न है, अर्थात् जो तीनों कालों द्वारा सीमित नहीं है; समस्त व्यावहारिक अनुभूतियों के अतीत ऐसी जो वस्तु है, उसके आप द्रष्टा या ज्ञाता हैं, उसे आप मुझे बताइये ।।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। १५ (४४)

अन्वयार्थ – **सर्वे** सम्पूर्ण **वेदाः** वेदशास्त्र अर्थात् उपनिषदें **यत्** जिस **पदम्** गन्तव्य वस्तु का **आमनन्ति** प्रतिपादन करती हैं, **च** और **सर्वाणि** समस्त **तपांसि** तपस्याएँ या कर्म **यत् वदन्ति** जिसे बताते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्ति के उपाय हैं, **यत्** जिसकी **इच्छन्तः** अभिलाषा करता हुआ **ब्रह्मचर्यम्** गुरुगृह-वास या ब्रह्मचर्य व्रत का **चरन्ति** पालन करता है, **ते** तुम्हारे लिये **तत्** वही **पदम्** इच्छित वस्तु **संग्रहेण** संक्षेप में **ब्रवीमि** कहता हूँ – **एतत्** यह **ओम् इति** ओम् शब्द का वाच्य है।

भावार्थ – यमराज बोले – सम्पूर्ण वेद अर्थात् उपनिषदें जिस गन्तव्य वस्तु का प्रतिपादन करती हैं और समस्त तपस्याएँ या कर्म जिसे बताते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्ति के उपाय हैं, जिसकी अभिलाषा करता हुआ गुरुगृहवास या ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, तुम्हारे लिये वही इच्छित वस्तु संक्षेप में कहता हूँ – यह ओम् शब्द का वाच्य है।

भाष्यम् – इति एवं पृष्टवते मृत्युः उवाच, पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन् –

भाष्य-अनुवाद – इस प्रकार पूछने वाले (नचिकेता) को, पूछी गयी वस्तु तथा उसकी कुछ अन्य विशेषताओं को बताते हुए यमराज बोले –

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयम् अविभागेन अविरोधेन आमनन्ति प्रतिपादयन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्-प्राप्ति-अर्थानि इत्यर्थः। यत-इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं गुरुकुल-वास-लक्षणम् अन्यत्-वा ब्रह्म-प्राप्त्यर्थं चरन्ति, तत् ते तुभ्यं पदं यत् ज्ञातुम् इच्छसि संग्रहेण संक्षेपतः ब्रवीमि ॐ इत्येतत्। तत् एतत् पदं यत् बुभुत्सितं त्वया तत् एतत् ओम् इति ओं-शब्द-वाच्यम् ओं-शब्द-प्रतीकं च ।।१५।।

समस्त वेद (उपनिषद्) जिस पद को, बिना किसी मतभेद के एक स्वर से प्राप्तव्य कहकर घोषित करते हैं, जिसे प्राप्त

करने के उद्देश्य से ही सारी तपस्याएँ की जाती हैं, जिसकी इच्छा से गुरुगृहवास या अन्य प्रकार से (कौमार्य व्रत धारण करके) ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, जिस पद को तुम जानने के इच्छुक हो, उसे मैं संक्षेप में कहता हूँ – वह ओम् है। जिस पद या लक्ष्य के विषय में तुमने जिज्ञासा प्रकट की है, उसे ओम् शब्द के द्वारा व्यक्ति किया जाता है और ओम् ही उसका शब्द-प्रतीक है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।१६

अन्वयार्थ – **हि** (चूँकि ॐकार ब्रह्म का वाचक तथा प्रतीक है) अत: **एतत्** यह **अक्षरम्** अक्षर या शब्द **ब्रह्म एव** (कार्य या अपर) ब्रह्म ही है, **हि** अतएव **एतत्** यह **अक्षरम्** ॐकार **परम् एव** परब्रह्म ही है। **एतत् अक्षरम्** इस ॐकार की **ज्ञात्वा** ब्रह्म रूप में उपासना करके **य:** जो (परब्रह्म या अपर ब्रह्म) **यत्** जो **इच्छति** चाहता है, **तस्य** वह **तत् हि** वही हो जाता है।

भावार्थ – (चूँकि ॐकार ब्रह्म का वाचक तथा प्रतीक है) अत: यह अक्षर या शब्द (कार्य या अपर) ब्रह्म ही है, अतएव यह ॐकार परब्रह्म ही है। इस ॐकार की ब्रह्म रूप में उपासना करके जो (परब्रह्म या अपर ब्रह्म) को चाहता है, वह वही हो जाता है।

भाष्यम् – अत: एतत् हि एव अक्षरं ब्रह्म अपरम् एतत् हि एव अक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीकम् एतत् अक्षरम्। एतत् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा उपास्य ब्रह्म इति य: यत् इच्छति परम्-अपरं वा तस्य तत् भवति। परं चेत् ज्ञातव्यम्, अपरं चेत् प्राप्तव्यम्।। १६ (४५)।।

भाष्य-अनुवाद – अतएव, यह (ॐ) अक्षर ही अपर (कार्य/हिरण्यगर्भ) ब्रह्म-स्वरूप है और यह अक्षर ही परब्रह्म-स्वरूप भी है, क्योंकि यह अक्षर ही ब्रह्म के दोनों रूपों का प्रतीक है। इस अक्षर (ॐ) को ही ब्रह्म के रूप में जानकर – उपासना करके, जो जिसकी इच्छा करता है – परब्रह्म की या अपर ब्रह्म की – वह उसे प्राप्त हो जाता है। यदि वह परब्रह्म को चाहता है, तो वह ज्ञान का विषय हो जाता है और यदि वह अपर ब्रह्म को चाहता है, तो वह प्राप्ति का विषय हो जाता है।। १६ (४५)।।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।१७।।

अन्वयार्थ – एतत् यह ॐकार (ब्रह्मप्राप्ति का) **श्रेष्ठम्** सर्वश्रेष्ठ **आलम्बनम्** आश्रय है, **एतत्** यह **परम्** परब्रह्म (तथा अपर-ब्रह्म-विषयक) **आलम्बनम्** आश्रय है, **एतत्** यह **आलम्बनम्** आश्रय को **ज्ञात्वा** जानकर उपासना करके (साधक) **ब्रह्मलोके** ब्रह्मलोक में **महीयते** पूजनीय होता है।

भावार्थ – यह ॐकार (ब्रह्मप्राप्ति का) सर्वश्रेष्ठ आश्रय है, यह परब्रह्म (तथा अपर-ब्रह्म-विषयक) आश्रय है, इस आश्रय को जानकर उपासना करके (साधक) ब्रह्मलोक में पूजनीय होता है।

भाष्यम् – यत् एवम्, अत एव एतत् आलम्बनं ब्रह्मप्राप्ति-आलम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्। एतत् आलम्बनं परम् अपरं च, परापर-ब्रह्म-विषयात्वात्। एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। परस्मिन् ब्रह्मणि अपरस्मिन् च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवत्-उपास्यो भवति इत्यर्थ: ।।१७।।

भाष्य-अनुवाद – चूँकि ऐसी बात है, अत: ब्रह्मप्राप्ति के अवलम्बनों या साधनों में यह सर्वश्रेष्ठ है, सर्वाधिक प्रशंसनीय है। पर तथा अपर ब्रह्म विषयक होने के कारण यह आलम्बन ही पर तथा अपर (ब्रह्म-स्वरूप) है। अत: साधक इस आलम्बन (ॐ) की उपासना करके ब्रह्मलोक में पूजित होता है। तात्पर्य यह कि (इस उपासना के द्वारा) पर या अपर ब्रह्म के साथ एकात्म होकर वह ब्रह्म के समान ही उपास्य हो जाता है।।१७ (४६)।।

* * *

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

वासना-त्याग –

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ।।२६८

अन्वय – देह-अक्ष-आदौ अनात्मनि 'अहं मम' इति य: भाव: अयम् अध्यास:, स्व-आत्मनिष्ठया विदुषा निरस्तव्य:।

अर्थ – देह, इन्द्रियों आदि अनात्म वस्तु में, जो 'मैं' तथा 'मेरा' रूप बोध है, वह 'अध्यास' (मिथ्या ज्ञान) कहलाता है। विद्वान् साधक को चाहिये कि वह अपनी आत्मनिष्ठा के द्वारा इसको दूर कर दे।

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्याऽनात्मन्यात्ममतिं जहि ।।२६९।।

अन्वय – स्वं बुद्धि-तद्वृत्ति-साक्षिणम् प्रत्यक्-आत्मानं ज्ञात्वा 'स: अहं' इति एव सद्-वृत्त्या अनात्मनि आत्ममतिं जहि।

अर्थ – अपनी बुद्धि तथा उसकी समस्त वृत्तियों को (प्रकाशित करनेवाला) साक्षी-स्वरूप जो अन्तरात्मा है, उसे जानकर और 'वह (चैतन्य-स्वरूप) मैं हूँ' – इस सद्वृत्ति के द्वारा (देहादि) अनात्म वस्तुओं में आत्म-बुद्धि को त्याग दो।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु।। २७० ।।

अन्वय – लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा, देहानुवर्तनं त्यक्त्वा शास्त्रानुवर्तनम् त्यक्त्वा स्व-अध्यास-अपनयं कुरू ।

अर्थ – लोकाचार का अनुसरण त्यागकर, देहसेवा को त्यागकर और विद्वत्ता दिखाने हेतु शास्त्र-चर्चा छोड़कर, अपनी (अन्तरात्मा के ऊपर के) अध्यास को दूर करो ।

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ।।२७१।।

अन्वय – लोक-वासनया, देह-वासनया च शास्त्र-वासनया अपि जन्तोः यथावत् ज्ञानं न एव जायते ।

अर्थ – लोक-वासना (अर्थात् अन्य लोगों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा) के कारण, शास्त्र-वासना (अर्थात् शास्त्रचर्चा द्वारा आनन्द प्राप्त करने की इच्छा) के कारण और देह-वासना (अर्थात् शरीर के सौन्दर्य तथा भोगसुख की चेष्टा) के कारण भी, जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता ।

संसार-कारागृह-मोक्षमिच्छो-
रयोमयं पादनिबन्धशृंखलम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटु वासनात्रयं
योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ।।२७२।।

अन्वय – संसार-कारागृह-मोक्षम्-इच्छोः पटु वासना-त्रयं अयोमयं पाद-निबन्ध-शृंखलम् (इति) तज्ज्ञाः वदन्ति । यः अस्मात् विमुक्तः (सः) मुक्तिम् समुपैति ।

अर्थ – ज्ञानी व्यक्तियों का कहना है कि संसार-रूपी कारागार से मुक्ति पाने के इच्छुकों के लिये, ये तीनों सुदृढ़ वासनाएँ मानो पाँवों में बँधी हुई लोहे की जंजीर हैं । जो इनसे छुटकारा पा लेता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है ।

जलादि-संसर्गवशात्प्रभूत-
दुर्गन्धधूताऽगरुदिव्यवासना ।
संघर्षणेनैव विभाति सम्य-
ग्विधूयमाने सति बाह्य-गन्धे ।।२७३।।

अन्वय – जलादि-संसर्गवशात् अगरू-दिव्य-वासना प्रभूत-दुर्गन्ध-धूता संघर्षणेन बाह्यगन्धे सम्यक् विधूयमाने सति एव विभाति ।

अर्थ – जैसे अगरू-चन्दन की दिव्य सुगन्ध जल आदि के सम्पर्क के कारण घोर दुर्गन्ध से ढक जाती है, (किन्तु) उसे रगड़ने तथा उसके बाह्य गन्ध को भलीभाँति हटा दिये जाने पर चन्दन की स्वाभाविक सुगन्ध प्रकट हो जाती है;

अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासना-
धूलीविलिप्ता परमात्मवासना ।
प्रज्ञातिसंघर्षणतो विशुद्धा
प्रतीयते चन्दनगन्धवत् स्फुटम् ।।२७४।।

अन्वय – अन्तःश्रिता-अनन्त-दुरन्त-वासना-धूली-विलिप्ता परमात्म-वासना प्रज्ञाति-संघर्षणतः विशुद्धा चन्दन-गन्धवत् स्फुटम् प्रतीयते ।

अर्थ – वैसे ही जीव का अन्तःकरण में परमात्मा का बोध-रूपी सौरभ, अनन्त अदम्य वासनाओं (संस्कारों) रूपी धूल से ढका हुआ है । (विचार रूपी) कठोर संघर्षण के द्वारा चन्दन के सुगन्ध के समान ही वह अभिव्यक्त हो उठता है ।

अनात्म-वासना-जालैस्तिरोभूतात्म-वासना ।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटम् ।।२७५

अन्वय – अनात्म-वासना-जालैः तिरोभूता आत्मवासना नित्य-आत्मनिष्ठया तेषां नाशे स्वयं स्फुटम् भाति ।

अर्थ – आत्मा की सुगन्ध को असंख्य वासनाओं के समूह ने आच्छादित कर रखा है । निरन्तर आत्म-चिन्तन के द्वारा उन वासनाओं का नाश हो जाने पर अपना स्वरूप स्वतः ही प्रस्फुटित या अभिव्यक्त हो उठता है ।

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मन-
स्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाम् ।
निःशेषमोक्षे सति वासनाना-
मात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ।।२७६।।

अन्वय – मनः यथा यथा प्रत्यग्-अवस्थितम्, तथा तथा बाह्य-वासनाम् मुञ्चति । वासनानां निःशेषमोक्षे सति आत्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या (भवति) ।

अर्थ – मन – ज्यों-ज्यों अपनी अन्तरात्मा में स्थित होता जाता है, त्यों-त्यों वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है; और वासनाओं का पूर्ण नाश हो जाने पर उसे अबाधित रूप से आत्म-साक्षात्कार होने लगता है ।

स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः ।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु ।।२७७।।

अन्वय – योगिनः मनः सदा स्वात्मनि एव स्थित्वा नश्यति च अतः वासनानां क्षयः, (तस्मात्) स्व-अध्यास-अपनयं कुरु ।

अर्थ – योगी का मन सदैव अपनी आत्मा में ही स्थित होकर स्वयं नष्ट हो जाता है और साथ ही वासनाओं का भी क्षय हो जाता है, (अतः) अपने अध्यास (देहादि में अहंता का बोध) को दूर करो ।

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति ।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु।।२७८।।

अन्वय – द्वाभ्यां तमः, सत्त्वात् रजः, शुद्धेन सत्त्वं नश्यति । तस्मात् सत्त्वं अवष्टभ्य स्व-अध्यास-अपनयं कुरू ।

अर्थ – (सत्त्वगुण तथा रजोगुण) दोनों के द्वारा तमोगुण का नाश होता है, सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण का नाश होता है और शुद्ध सत्त्वगुण के द्वारा सत्त्वगुण का नाश होता है; अतः अपने अध्यास (देहादि में अहंबोध) को दूर करो ।

❖ (क्रमशः) ❖

विश्व-भ्रातृत्व-दिवस मनाया गया

११ सितम्बर, २०११ अपराह्न ४.३० बजे विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर (छत्तीसगढ़) में 'विश्व-भ्रातृत्व-दिवस' का आयोजन किया गया। कार्यक्रम का शुभारम्भ छत्तीसगढ़ के राज्यपाल महामहिम श्री शेखर दत्त जी के आगमन के साथ ही राष्ट्रगीत के सांगीतिक वाद्य से हुआ। विद्यापीठ के बच्चों ने शान्ति पाठ किया। पुष्प-गुच्छ से आगत अतिथियों का स्वागत हुआ। विवेकानन्द विद्यापीठ के प्राचार्य श्री एच. डी. प्रसाद ने अतिथियों का स्वागत करते हुए परिचय दिया। विद्यापीठ के बच्चों के द्वारा 'जय योगीश्वर त्रिभुवन वन्दन' नामक विवेकानन्द-गीति प्रस्तुति के बाद व्याख्यानों का सिलसिला आरम्भ हुआ।

शिकागो महासभा की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओम प्रकाश वर्मा ने कहा, ''हम इस शिकागो-महासभा के ऐतिहासिक दिवस को क्यों मनाते हैं? भारत चिरकाल से विश्व के सभी देशों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। सभी देश भारत से कुछ-न-कुछ पाने के लिये उद्यत रहते थे। सिकन्दर के गुरु ने उससे कहा था कि भारत से कुछ विद्वानों को लाना, उनके निर्देशन से इस देश का बहुत विकास होगा। कोलम्बस ने १४९२ ई. में भारत के भ्रम में अमेरिका को खोज निकाला। उसी की ४०० वीं वर्षगाँठ की स्मृति में अमेरिका के शिकागो नगर में एक विशाल प्रदर्शनी लगायी गयी, जिसमें एक धर्म-महासभा भी आयोजित हुई थी। उसमें भाग लेने ७२ देशों से २ करोड़ ७० लाख लोग आये थे।

''प्रदर्शनी में आयोजित सभी चीजों को लोग भूल चुके हैं, लेकिन धर्मसभा आज भी स्वामी विवेकानन्द के कारण याद की जाती है। स्वामीजी ने भारत की महिमा, विश्वबन्धुत्व, सर्वधर्म-सम-भाव को सारे विश्व के सामने स्थापित किया। स्वामीजी जब 'भारत' कहते; तो उससे दया, क्षमा, प्रेम आदि बहुत कुछ प्रकट होता था। स्वामीजी जब 'मेरा भारत' कहते, तो उसमें सर्व-दर्शन-सार और संस्कृति का भाव भरा होता था। भारत के लोग उनके लिये ईश्वर थे। भारत उनका प्राण था। स्वामीजी ने कहा कि विश्व को बचाने के लिये भारत को बचाये रखना अति आवश्यक है। स्वामीजी का सन्देश अपने महत्त्व से महत्त्ववान और अपने प्रकाश से प्रकाशमान है।''

सभा के मुख्य वक्ता छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री कनक तिवारी ने बहुत सकारात्मक सुझाव देते हुये कहा, ''हम सभी दफन हो जायेंगे, किन्तु विवेकानन्द ऐसे ही युवा बने रहेंगे। रायपुर का, हमारे छत्तीसगढ़ का यह गौरव है कि हमारे स्वामी विवेकानन्द जी का विकास यही हुआ और बाद में वे अमेरिका गये। वस्तुत: इतिहास के साथ अन्याय हुआ है, क्योंकि भारतीय संविधान में जो कुछ लिखा है, वह स्वामीजी ने पहले ही कह दिया था। गाँधीजी के १० साल पूर्व स्वामीजी ने जो बातें कही थीं, वही संविधान के निर्माताओं ने लिखा। किन्तु संविधान की चर्चाओं में विवेकानन्द का उल्लेख नहीं आता। आज १५० वर्ष बाद भी हम न्याय नहीं कर सके। स्वामी विवेकानन्द जी पर अभी शोध करने की जरूरत है।''

श्री तिवारी ने महामहिम से निवेदन किया कि छत्तीसगढ़ के प्रेरणापुरुष स्वामी विवेकानन्द की स्मृति में रायपुर में स्थापित होनेवाले 'स्वामी विवेकानन्द प्रबुद्ध संस्थान' के कार्य को आगे बढ़ाने हेतु राज्य सरकार और मंत्री-परिषद ओर से पहल करें।

सभा के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के राज्यपाल महामहिम श्री शेखरदत्त ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द एक जिज्ञासु थे। हम आगे तभी बढ़ पायेंगे, जब हम प्रश्न करेंगे और उत्तर पायेंगे। शोध भारत के विकास के लिये आवश्यक है। हमें अभी बहुत कुछ खोजना है। जब कोलम्बस भारत आ रहा था, तभी उसने अमेरिका की खोज की थी। भारत का स्थान विश्व में ऊँचा था। भारतीय दर्शन, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिकता अन्य देशों की अपेक्षा काफी आगे था। इसीलिये अन्य देशों के लोग यहाँ आना चाहते थे। आज भारत में हमें एक नये समाज का निर्माण करना है, जो हमें विश्व-शिखर तक पहुँचा सके। नये भारत के निर्माण हेतु यहाँ के बहुत से बच्चे तैयार होंगे। हमें शिखर तक पहुँचना अभी बाकी है। मैं आप सबको अपनी शुभ-कामनाएँ देता हूँ।

विवेकानन्द शिक्षण संस्थान के प्राचार्य श्री यु. एस. तिवारी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। सभा का संचालन विद्यापीठ के छात्र महेन्द्र कुर्रे ने किया। विद्यापीठ के छात्रों के द्वारा 'वन्दे मातरम्' और अन्त में राजभवन से आगत बैंड पार्टी के 'जन-गण-मन' वाद्य-संगीत से सभा सम्पन्न हुई। **(अगले अंक में जारी)**

RAMAKRISHNA MISSION ASHRAMA
MALDA - 732101, WEST BENGAL, INDIA

PHONE NO. 03512-252479

Appeal for the construction of a Charitable Dispensary

Date : 12.09.2011

Dear Sir / Madam,

Our Ashrama is a branch of Ramakrishna Mission, Belur Math, Howrah. We are working for the last 86 years in this small town of North Bengal.

We serve the uneducated, illiterate, ailing people, flood-draught affected people 9irrespective of caste, creed and religion as per the ideas and ideals of Ramakrishna-Vivekananda.

Our Ashrama runs a high shcool (H.S.+2), a Kindergarten & a Primary school for middle class people. Two rural primary schools are being run for tribal childern who are first generation learners. In addition to above, six free coaching Centres are being run by us in remote village areas.

We run an allopath and a homoeopath dispensary for poor slum dwellers and we have a mobile medical service for rural poor ailing people. About thirty thousand poor people are served free of cost in our medical units.

We distribute regularly school uniform, dhoti-saree, blankets, food-packets etc. to needy village people.

We are going to construct one Dispensary Building which will cater Homeopathy, Alopathy Medicine, Eye, ENT, Dental, Paediatric, Gynecology, Pathologcal Tests etc. The cost of construction of the above building will be around Rs. 60.00 lacs (Sixty lakhs).

We request you to lend a helping hand to make this humble project a success.

I may mention here that donations of Rs. 1 lac and more [in memory of your relative etc.] the donor's name will be displayed in a suitable place in the ground floor through marble plaques.

All donations for this noble cause are exempted from Income Tax u/s 80G of Income Tax Act. 1961. A/c. payee Cheque / Draft may be drawn in favour of Ramakrishna mission Ashrama, Malda.

With Namaskar,

Your sincerely,

Swami Parasharananda

Secreatary